जायसी

।। विजय देव नारायण साही ।।

फोटो—वसीमुल हक़

प्रो० विजयदेवनारायण साही

- जन्म : अक्टूबर 7 (विजयादशमी) 1924, कबीर चौरा, वाराणसी में।
- पिता : श्री ब्राह्मदेवनारायण साही
- माता : श्रीमती सूरतवन्ती साही
- विवाह : दिसम्बर 1, 1957, सुश्री कंचनलता, पुत्री प्रोफेसर मुरलीधरलाल श्रीवास्तव।
- देहावसान : नवम्बर 5, 1982, बैंक रोड, इलाहाबाद।
- 1948 में एम० ए० पास करते ही आचार्य नरेन्द्रदेव की अनुज्ञा से काशी विद्यापीठ में अध्यापन प्रारम्भ।
- कालीन-बुनकरों को संगठित कर उनकी यूनियन बनाई, उनकी लड़ाई लड़ते रहे। महिला कताईकारो के लिये भी संघर्ष किया और उन्हें उचित वेतन दिलवाया।
- कानून की पुस्तकें पढ़कर मजदूरों के केस को हाईकोर्ट से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक लड़ते थे और जीतते थे। इस कार्य में उन्होंने कार्यकर्त्ताओं को भी प्रशिक्षित किया।

[शेष अगले कवर पेज पर…

जायसी

प्रो० विजयदेवनारायण साही
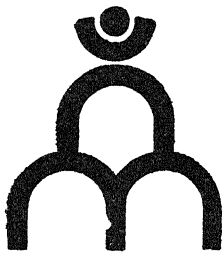
प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी की व्याख्यानमाला-शृंखला के अन्तर्गत स्वर्गीय विजयदेवनारायण साही के जायसी-विषयक व्याख्यानों के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन करते हुए प्रसन्नता हो रही है।

स्वर्गीय साही जी प्रातिभ सर्जक और मनीषी विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित थे। उनकी वाग्मिता और मनस्विता प्रबुद्ध आलोचकों को भी आकृष्ट और चमत्कृत करती रही है। हिन्दी की सूफ़ी-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि मलिक मोहम्मद जायसी के 'पद्मावत' का भी अध्ययन साही जी ने सुधी काव्यास्वादक के रूप में किया था। एक कवि के रूप में जायसी के काव्य-वैशिष्ट्य के संबंध में साही जी की अध्ययन-दृष्टि को हिन्दी-जगत् में सराहा गया है। फलतः यह ग्रंथ बहुचर्चित हुआ और प्रथम संस्करण के समाप्त होते ही उसे पुनः प्रकाशित करने की अनिवार्यता प्रतीत हुई। ग्रंथ के महत्त्व को दृष्टिपथ में रखते हुए उनके व्याख्यानों के इस संग्रह को मध्यकालीन सूफ़ी-काव्य के सजग अध्येताओं के लिए पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्वास है, पाठक-वृन्द हिन्दुस्तानी एकेडेमी के इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का स्वात्मना स्वागत करेंगे।

१५ मार्च, '९३

हरिमोहन मालवीय
सचिव

प्रकाशकीय

'जायसी'—हिन्दुस्तानी एकेडेमी में १७, १८, १९ मार्च (१९८२) को आयोजित स्व० विजयदेवनारायण साही के तीन विशिष्ट व्याख्यानों का प्रकाशित रूप है। व्याख्यानों के रूप में पठित अंशों के अतिरिक्त इनमें वे लिखित अंश भी समाहित हैं जो समयाभाव के कारण पढ़े नहीं जा सके। पिछले कई वर्षों से साही जायसीमय हो गये थे, यह हम सभी जानते हैं। यह समीक्षा-कृति जिस मानसिक धरातल पर सम्भव हुई है, वह स्वयं एक कवि की संवेदनात्मक गहराई और प्रखर बौद्धिकता का परिचायक है। जायसी के रूपक का आधार लेकर स्वयं साही कहते हैं—'बार-बार दूर वन-खण्ड से आकर मैं इस जायसी-रूपी कमल की बास लेता हूँ। हर बार एक नयी सुगन्ध मिलती है।' आश्चर्य नहीं कि यह लघु समीक्षा-पुस्तक सृजनात्मक समीक्षा का एक प्रेरक कीर्तिमान सिद्ध हो—

'तेजवंत लघु गनिअ न रानी।'

समीक्षा-क्रम में साही ने कुछ ऐसी नयी एवं अप्रत्याशित स्थापनाएँ की हैं जो उनके जीवन-काल में ही विवादास्पद हो गयीं। पर, उन स्थापनाओं के पीछे चिन्तन की परिपक्वता, तर्कनिष्ठता तथा प्रामाणिकता का इतना बल है कि उन्हें खंडित करना शिव-धनु-भंजन की तरह दुष्कर सिद्ध होगा—ऐसा मुझे लगता है। साही का कहना है कि 'पद्मावत' सूफ़ी ग्रंथ नहीं है, भले ही उसमें सूफ़ी मत या सूफ़ी मतों के तत्त्व हैं और वे तत्त्व कथा के प्रधान अंश हैं। इसी आधार पर वे जायसी को 'सूफ़ी' नहीं, 'कवि' कहने पर बल देते हैं। नरेश मेहता के काव्यपाठ से सम्बद्ध विचार-चर्चा में उन्होंने बलपूर्वक कहा था, अच्छे साहित्य के आस्वादन के लिए विचारधारा से सहमत होना ज़रूरी नहीं है। जायसी के सन्दर्भ में वे जो कुछ कहते हैं, वह इससे भी आगे जाना दिखायी देता है। उनकी दूसरी स्थापना है कि 'पद्मावत' की कथा बहुत दूर तक जायसी की अपनी उद्भावना है क्योंकि उसकी तथाकथित ऐतिहासिकता एवं उससे सम्बद्ध प्रमाण संदिग्ध हैं। जो हैं, वे घूमकर जायसी के कृतित्व पर ही आधारित दिखायी देते हैं। पर मेरे विचार से साही का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान जायसी की मूल सर्जनात्मक वृत्ति का उद्घाटन है जिसे वे पूरी कथा की बनावट के विश्लेषण द्वारा अपनी उधेड़-बुन के सहारे पकड़ना चाहते हैं। शिल्प-विधि का परीक्षण उसी के आश्रित रहकर किया गया है। साही ने नयी शब्दावली ही नहीं, नये प्रत्यय भी दिये हैं; जैसे—'संगीतात्मक संप्रेषण', 'पारदर्शी निर्वैयक्तिकता', 'प्रबन्धगत स्वरूप-निरूपण' और 'प्रतिध्वनियाँ' आदि-आदि।

'पद्मावत' के कथानक में 'अलोक' (आदर्श-लोक नहीं) तथा 'इतिहास-लोक' का द्वन्द्वपरक एवं परस्पर-पूरक सम्बन्ध प्रदर्शित करके उन्होंने उसकी नयी व्याख्या की है। सतह पर इतिहास-लोक अपनी बाहरी दुनिया में अपर्याप्त है और सिंहल-लोक अपनी आन्तरिकता में स्वतःपूर्ण है। लेकिन तत्त्वतः वे अलग-अलग नहीं रह सकते। वे एक-दूसरे को बराबर बेधते रहते हैं और एक गहरी ट्रैजिडी को जन्म देते हैं।

साही का यह भी कहना है कि अगर हम आज की शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं—"जायसी अध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी हैं और भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी।"

'निराला' की 'स्नेह निर्झर बह गया है' कविता की अन्तिम पंक्तियों—

"मैं अलक्षित हूँ
यही कवि कह गया है"

का स्मरण करते हुए उन्होंने उस जायसी का उद्‌घाटन किया है जो अपनी रचनाओं के भीतर अन्तर्निहित होते हुए भी शुक्ल जी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी जैसे मनीषी समीक्षकों की दृष्टि में भी अलक्षित रह गया।

संस्कृति के विषय में उनका चिन्तन इस समीक्षा-वृत्ति में प्रयोगात्मक रूप लेता है। काव्यभाषा के विषय की स्थापनाएँ भी कसौटी पर स्वयं ही कसी हुई दिखायी देती हैं। वे जायसी के 'पूरे अनुभूति-पुंज' की तलाश करते हैं, उनके किसी एक अंश की व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। यह अनुभूति-पुंज न मात्र जायसी का है, न साही का, वरन् सारे देश का है— मुझे यही लगता है और कदाचित् समीक्षक का भी ऐसा ही अभीष्ट था। वे नये चिन्तन को केवल नये साहित्य तक लागू रखने के पक्षधर नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि दृष्टि वही सही है जो नये और पुराने दोनों की समुचित व्याख्या कर सके। 'नयी कविता' के सम्पादन में, और उसके बाद भी, मेरा उनका साथ इसी मान्यता के कारण उत्तरोत्तर सुदृढ़ होता गया।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी का यह अभिनव प्रकाशन न केवल जायसी के विषय में, वरन् साहित्य-मात्र के विषय में नयी दृष्टि के विकास में पर्याप्त प्रेरक एवं सहायक सिद्ध होगा।

जगदीश गुप्त
सचिव

भूमिका

कहने को बहुत है, लेकिन कहूँगी सिर्फ़ दो बातें। एक तो यह कि किसी कवि पर लिखनेवाला प्रखर आलोचक स्वयं भी कवि हो तो वह अपने आलोच्य विषय पर जितने गवाक्ष खोलता है, उतने ही अपने कृतित्व पर भी। 'जायसी' का महत्त्व जितना जायसी पर नयी रोशनी डालने के कारण होगा, शायद उतना ही जायसी के बहाने साही जी पर नयी रोशनी डालने के कारण भी हो।

दूसरी बात के नाम पर 'नयी कविता' से 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' में से साही जी का कहा हुआ दोहराऊँगी—

......सचमुच बड़ा लेखक, अगर उसमें कुछ भी दम है
तो अभिनन्दित होने से अधिक 'समझा जाना'
पसन्द करेगा। अभिनन्दन की प्यास दिमाग़ी
टुकड़हेपन की द्योतक है...............

(नयी कविता, संयुक्तांक, ५-६, पृ० ८४)

अगर 'जायसी' के पाठकों को इस पुस्तक के पढ़ने से, जो विनयशीलता और दर्द के अद्भुत सम्मिश्रण थे, उन्हें समझने में मदद मिली तो उन्हें शान्ति मिलेगी और मुझे भी।

—कंचनलता साही

अक्टूबर, १९८३
१४, बैंक रोड, इलाहाबाद

क्रम

"एक अर्थ में जायसी हिन्दी के पहले विधिवत् कवि हैं। कबीर में प्रयास के चिह्न हैं, जायसी में प्रयास कहीं दिखलायी नहीं देता।"

— विजयदेवनारायण साही

१

जायसी के बारे में कुछ उधेड़-बुन

इस लेख का उद्देश्य जायसी का पुनर्मूल्यांकन करना नहीं है। पुनर्व्याख्या भी नहीं है। उद्देश्य एक हद तक उधेड़-बुन ही है। इस उधेड़-बुन में शायद कुछ पुनर्व्याख्या या पुनर्मूल्यांकन हो जाने की संभावना है। लेकिन वह पहली प्रतिज्ञा नहीं है। पहली प्रतिज्ञा यही है कि जायसी को पढ़ा जाय। केवल उस रूप में नहीं जिस रूप में हिन्दी के विद्यार्थियों को 'पद्मावत' से कुछ अंश पढ़ने पड़ते हैं, बल्कि कुछ अधिक ताज़गी के साथ।

जायसी हिन्दी के अति महत्त्वपूर्ण कवि हैं। बीते हुए काल के एक वरिष्ठ कवि होने के नाते ही नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि आज के साहित्यकार और साहित्य से सरोकार रखनेवाले के लिए जायसी से अपरिचित होना अकिंचन हो जाने जैसा है।

एक अर्थ में जायसी हिन्दी के पहले विधिवत् कवि हैं। मैं यह नहीं कहता कि कबीरदास ने कविता के द्वारा एक अत्यन्त कठिन समय में अभिव्यक्ति की समर्थ और शक्तिशाली राह नहीं बनाई। कबीरदास के पथ-प्रदर्शन और क्षमता के बिना शायद जायसी के लिए पद्मावत को लिख पाना भी संभव न होता। परन्तु कबीर अपनी प्रतिभा के सहारे भाषा को ठेल ठेलकर आगे बढ़ाते हैं। उनकी कविता में इस प्रयास के चिह्न बराबर दिखते हैं। लेकिन जायसी में पहली बार हिन्दी भाषा सहज काव्य-प्रवाह में बहने लगती है। हिन्दी का अवधी रूप, जिसे जायसी ने अपने काव्य-माध्यम के लिए चुना, समूचा का समूचा काव्यमय हो जाता है। कवि का प्रयास कहीं दिखता नहीं। लगता है कि समूची अवधी भाषा कविता ही है जो जायसी की क़लम से अपना स्वरूप ग्रहण करती चलती है। जब भाषा में इस तरह की अपनी स्वतःस्फूर्त गति दिखे तो हम बेखटके समझ सकते हैं कि हम एक बड़े कवि के सामने उपस्थित हैं। दाऊद के 'चन्दायन' के कुछ अंश जायसी के पहले के हैं। कुतबन की 'मृगावती' भी जायसी के आसपास की भी कुछ ही पहले की है। जायसी के पद्मावत की अवधी से सामान्य तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी। दाऊद और कुतबन दोनों में लगता है कि अवधी भाषा अभी भी रोड़े अटका रही है।

पद्मावत में न सिर्फ़ ये रोड़े ग़ायब हो गये हैं, बल्कि भाषा ख़ुद कविता को जन्म देती और प्रौढ़ करती चलती है।

लेकिन एक और महत्त्वपूर्ण अर्थ में जायसी पहले कवि हैं। शायद कबीरदास 'कवि' नहीं थे। सन्त ही अधिक थे। इसकी अधिक जानकारी हमें नहीं है कि कबीरदास को उनके जीवन-काल में उनके प्रशंसकों ने कवि कहकर सम्बोधित किया या नहीं। उनके 'सन्त' रूप के प्रभाव की कथाएँ तो काफ़ी हैं—जीते जी, और मर कर भी। लेकिन उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को देखकर अनुमान यही होता है कि 'कवि' रूप में कबीरदास को सम्बोधित करने वाले कुछ विचित्र बात कहते हुए जान पड़ते हैं। इसके विपरीत, जायसी मूलतः 'कवि' हैं—अपनी सृजनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से और बारम्बार अपने दावे के अनुसार भी। उसी तरह, जिस तरह कालिदास कवि हैं, जायसी के पूर्ववर्ती अमीर खुसरो कवि हैं, या फ़ारसी के निज़ामी कवि हैं। पद्मावत में बारम्बार वे अपने को कवि कहकर ही पाठक के सामने प्रस्तुत होते हैं। कभी-कभी कवि होने का यह दावा ग़ालिब की तरह 'सख़ुन-गुस्तराना' लहजे में भी प्रकट होता है :

> मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु ।
> जेइँ मुँख देखा तेइँ हँसा सुना तौ आये आँसु ।।

अधिकांशतः लहजा विनय का ही है :

> हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा ।।

'तबल दइ डगा' में स्वर फिर 'सख़ुन-गुस्तराना' झलकता है। लेकिन डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अत्यन्त कौशल के साथ इसका अर्थ 'सेना के आगे तबल बजाने वालों को पीछे डग देनेवाले' करके जायसी के वक्तव्य की विनयशीलता को रेखांकित किया है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि कविरूप में जायसी ने विनीत मुद्रा अपनाई है या आत्माभिमानी। संभवतः ये दोनों ही भंगिमाएँ कथन-शैली के अभिप्राय ही हैं। दोनों ही भंगिमाएँ पारम्परिक काव्य में मिल जायँगी। वास्तविक काव्य-प्रतिभा कवि को बहुत गर्बीला और साथ ही साथ अत्यन्त विनयशील भी बनाती है। देखने की बात यह है कि जायसी के इस तरह के कथनों का स्रोत उनके अपने कवि होने की जागरूकता में ही है, सूफ़ी या सन्त होने में नहीं है :

> एक नैन कबि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेइँ कवि सुनी ।।
> चाँद जइस जग बिधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजिआरा ।।
> जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ ।।

जौं लहि अंबहि डाभ न होई । तौ लहि सुगंध बसाइ न सोई ॥
कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा । तौ अति भएउ असूझ अपारा ॥
जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा । भा कंचनगिरि लाग अकासा ॥
जौं लहि घरी कलंक न परा । काँच होइ नहि कंचन करा ॥

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ ।
सब रुपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ ॥ १।२१॥

स्पष्ट है कि इन गर्वोक्तियों का आघात जायसी के लिए अपने कवि, बल्कि समर्थ कवि होने की चेतना ही है । जैसा पहले संकेत किया गया है, अपने बारे में गर्वोक्ति या विनयोक्ति, ये दोनों ही भंगिमाएँ कविकर्म की परम्परा हैं, संस्कृत में भी और फ़ारसी में भी । शायद फ़ारसी में अधिक । 'शाहनामा' का लेखक फिरदौसी भी इस 'सखुन-गुस्तराना' लहजे से काम लेता है :

बसे रंज बुरदम दरीं साल सी । अजम ज़िन्दा करदम बदीं पारसी ॥

(मैंने इन तीस बरसों में काफ़ी कष्ट उठाया और इस फ़ारसी भाषा में मैंने ईरान को ज़िन्दा कर दिया ।)

या

मनम करदा अम रुस्तमे पहलवाँ । बगरना चले बूद दर सीस्ताँ ॥

(मैंने रुस्तम को पहलवान बना दिया, वरना वह सीस्तान का एक मामूली कुश्तीबाज़ ही तो था ।)

बेशक, इन गर्वोक्तियों में भी जायसी की अपनी शैलीगत विशेषता उपस्थित है । उसमें बराबर एक मिठास बनी रहती है । न तेवर में तनाव आता है, न आवाज़ में कड़क पैदा होती है । इस मिठास के कारण ही गर्वोक्ति में भी विनम्रता का पुट निरंतर बना रहता है । जायसी के इस गुण को हम आगे भी भी देखेंगे । जायसी काव्य की परंपरागत रूढ़ियों और रीतियों का निर्वाह करते हुए भी अपनी निर्मल मिठास के कारण सर्वत्र मौलिकता का समावेश करते हैं जिससे बात न सिर्फ़ अनूठी हो जाती है, बल्कि उसमें एक निजी अनुभूति भी शामिल हो जाती है ।

जायसी मूलतः कवि हैं, इसको रेखांकित करना आवश्यक है । इसलिए भी कि जायसी और पद्मावत की चर्चा में यह तथ्य अक्सर ओझल या गौण कर दिया जाता है । अतः कुछ और दृष्टान्त प्रस्तुत करके इस चर्चा को परिपुष्ट करना उचित होगा । पद्मावत के आरंभ में अपने समसामयिक बादशाह शेरशाह की स्तुति करने के बाद जायसी कहते हैं :

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज ।
पातसाहि तुम जग के जग तुम्हार मुहताज ।।

इस दोहे की जीवन्तता को देखते हुए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह अनुमान लगाया कि जायसी अवश्य शेरशाह से मिले होंगे और सचमुच उन्होने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया होगा। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि स्तवन और आशीर्वाद, आत्माभिमान और मिठास की यह मिली-जुली मुद्रा कवि की ही है, सन्त या सूफ़ी फ़कीर की नहीं।

सूफ़ीमत, सूफ़ी सम्प्रदाय और सूफ़ी सन्तपन का घेरा जायसी और उनके पद्मावत की चारों ओर इस तरह डाल दिया गया है कि उनका कवि-व्यक्तित्व धुँधला पड़ गया है। इस घेरे के बारे में उधेड़-बुन हम आगे अधिक विस्तार से करेंगे, विशेषत: पद्मावत के सन्दर्भ में। अभी तो हम कवि जायसी का ही साक्षात्कार करेंगे।

जायसी के जीवन-वृत्त के बारे में हमें जानकारी लगभग नहीं है। जो कुछ भी है, वह जायसी के द्वारा ख़ुद दी हुई है। सूफ़ी पीरों और मुरशिदों के बारे में तो मध्यकाल की धार्मिक और ऐतिहासिक पुस्तकों में काफ़ी जानकारी मिल जाती है। यहाँ तक कि पर्याप्त श्रम करके चिश्तिया सम्प्रदाय और उसकी विभिन्न शाखाओं और दरगाहों के फ़कीरों की लम्बी सूचियाँ भी विद्वानों ने तैयार कर ली हैं। लेकिन इन सूचियों में ख़ुद जायसी का ज़िक्र एक फ़कीर या सिद्ध पुरुष की तरह कहीं नहीं आता। 'आईने-अकबरी' में उल्लिखित लगभग डेढ़ सौ नये-पुराने फ़कीरों और दरवेशों की सूची में जायसी का नाम नहीं है। आगे उन ख़ानक़ाहों में भी जहाँ बाद में जायसी के पद्मावत की प्रतियाँ तैयार की गयीं और शायद उनके पद्मावत के अंश गाये गये, यह ज़रूरी नहीं समझा गया कि जायसी के बारे में कुछ प्रकृत, कुछ चमत्कारी जीवन-वृत्त तैयार कर लिया जाये, जैसा सिद्धों, सूफ़ियों, सन्तों आदि के बारे में हो जाया करता है। कुछ चमत्कारी किंवदन्तियाँ अवश्य निर्मित की गयीं जिनका ज़िक्र जायसी-सम्बन्धी पुस्तकों में विद्वानों ने ज़रूर किया है। लेकिन उनका आकर्षण केवल स्थानीय ही है। यह भी नहीं स्पष्ट है कि जायसी को जायसी बाबा बनाने की कोशिश जायस में कब शुरू हुई, क्योंकि कोई नैरन्तर्य न जायसी-चर्चा में दिखता है, न जायसी की समाधि-पूजा में। उल्लेखों और साक्ष्यों की अनुपस्थिति के आधार पर अनुमान लगाना ख़तरनाक काम है। लेकिन जहाँ अनुमानों और जनश्रुतियों के आधार पर किसी काव्यकृति की चारों ओर अच्छी ख़ासी सम्प्रदायगत घेराबन्दी हो गयी हो, वहाँ कुछ रेशों की अनुपस्थिति

दिखाना उपयोगी होता है। बहरहाल, इतना तो कहा ही जा सकता है कि जायसी यदि सूफ़ी थे भी, तो न सरकारी सूफ़ी थे, न मठी। अगर डॉक्टर लोहिया की शब्दावली का इस्तेमाल करें तो कुजात सूफ़ी रहे हों, तो हों। वैसे कुजात सूफ़ी वे कितने और किस तरह के थे, इसकी कुछ और छानबीन करने का अवसर आगे आयेगा। जायस वालों की कोशिश के बावजूद मलिक मुहम्मद जायसी की दरगाह का कोई ख़ास मठ तो अभी भी नहीं बन सका है। इस बीसवीं सदी में सरकारी पीर शायद बन जायें। सुना है, स्वर्गीय संजय गांधी तो उनके मज़ार पर हो आये हैं, आख़िर जायसी उनके चुनाव-क्षेत्र में थे। देखें इन्दिरा जी या कोई अन्य प्रधान मंत्री वहाँ कब जाता है। जो काम अकबर के मंत्री अबुल फ़ज़ल ने नहीं किया, वह शायद कोई नया मंत्री करे।

बाहरी साक्ष्यों के अभाव में जायसी के बारे में हमारी जानकारी का कुल आधार उतना है जो जायसी ने ख़ुद 'आख़िरी कलाम' और पद्मावत में दिया है। जायसी की सृजनशीलता का समय बाबर से लेकर शेरशाह तक है। जन्म और मृत्यु के प्रश्न अभी भी अनुमान का ही विषय हैं। पद्मावत के अन्त में जायसी अपने वृद्ध हो जाने का दुःख मानते हैं और जवानी के दिनों की याद करते हैं।

जायसी ने अपने गुरुओं के रूप में कुछ नाम गिनाये हैं, जैसे सैयद अशरफ़, हाजी शेख़, शेख़ मुबारक, शेख़ कमाल, मोहदी, शेख़ बुरहान, अलहदाद, सैयद अहमद, दानियाल, सैयद राजे इत्यादि। विद्वानों और शोधकर्ताओं ने इन नामों की सूची को काफ़ी मथा है। इन नामों को सूफ़ी सन्तों के किसी एक सम्प्रदाय या घराने में बाँध पाना संभव नहीं हो सका है। नामों में कालक्रम के अनुसार तरतमता भी नहीं है। कई नाम फुहैल निकल जाते हैं। सही यही दिखता है कि जायसी विधिवत् किसी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे। न किसी घराने से उनका दीक्षा का संबंध ही बनता है। जायसी ने जितने नाम लिये हैं, उन सबको उन्होंने आस्था और आदर के साथ एक सिरे से दिया है।

मध्ययुग में, बल्कि बीसवीं शताब्दी में भी सामान्य व्यक्तियों के लिए किसी सिद्ध पुरुष को, या कई सिद्ध पुरुषों को गुरुवत् नमस्कार करना और आशीर्वाद की याचना करना कोई अजूबा नहीं है। आज भी ऐसे कवि हैं जो एक ही साँस में कार्ल मार्क्स, फ्रायड, देवरहवा बाबा, बाबा नीमकरोली, अरविन्द, सच्चा साईं, सबको अपने आदर-भाव का प्रसाद चढ़ा देते हैं। अपनी इस अर्थार्थी बाबा नाम केवलम् की मुद्रा से उनका आशय यह कदापि नहीं होता कि वे अपनी जीवन-शैली या सृजनात्मक उद्देश्यों में इन बाबाओं से बँध

गये। आज से साढ़े चार सौ बरस पहले, जायसी का रिश्ता इन उल्लिखित गुरुओं से अधिक बना रहा हो--ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिखता।

एक कठिनाई और है। अगर हम मान भी लें कि इन सभी पीरों या मुरशिदों से जायसी का रिश्ता एक साधु-श्रद्धालु कवि से कुछ अधिक गहरा था, अर्थात् दीक्षा, साधना और सम्प्रदाय बद्धता तक भी पहुँचता था, तो भी अब तक की हुई खोज में इसका पता बिलकुल नहीं चल पाया है कि आख़िर इन सभी साधुओं का सामाजिक, राजनैतिक दृष्टिकोण क्या था। मूल्यों की जटिल टकराहट और उलट-फेर के उस युग में इन महानुभावों या इनमें से हर एक ने अलग-अलग क्या भूमिका निभाई ? या जायसी को ये सब गुरु या इनमें से कोई एक किस हद तक स्वीकार्य या अस्वीकार्य थे ? जैसा मैंने पहले कहा कि भारतीय इतिहास में सूफ़ी सरकारी, मठी और कुजात तीनों तरह के दिखते हैं। इसलिए राबिया या मन्सूर हल्लाज या अल ग़ज़ाली के सिद्धान्तों की व्याख्या करके हम जायसी द्वारा गिनाये गये साधुओं और पद्मावत की समूची रचनात्मक सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि पर उनके प्रभाव या सामंजस्य के लिए कोई काम-लायक परिणाम नहीं निकाल सकते। अगर निकालने की कोशिश करेंगे तो केवल दो-चार संदर्भों, जैसे—चार बसेरे या पद्मिनी के रूप-वर्णन में पेड़-पौधे, सूरज-चाँद में उसकी ज्योति के आभास से मिलनेवाली काव्यात्मक शक्तियों से उलझकर रह जायेंगे और पूरा काव्य हमारी दृष्टि-परिधि से बाहर चला जायगा, जैसा बहुधा आलोचकों के साथ हुआ है।

गिनायी गई साधु-सूची और पद्मावत में कितना अन्तराल पड़ सकता है और उससे व्याख्या-संबंधी कैसी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है, इसका एक उदाहरण रोचक होगा। डॉ० रामखेलावन पाण्डेय ने अपने एक लेख (जायसी : तिथिक्रम और गुरु-परंपरा, हिन्दी अनुशीलन—धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक; भारतीय हिन्दी परिषद्, १९६०) में बदायूँनी के 'मुत्तख़ाबुल तवारीख़' के हवाले से जायसी के गुरु के रूप में अनुमानित सैयद मुहम्मद महदी जौनपुरी और उनके द्वारा चलाये हुए महदवी मत का थोड़ा संकेत दिया है। उनके अनुसार, बदायूँनी ने सैयद की जीवन-चर्या का इस प्रकार वर्णन किया है—"वे बैरागियों का-सा जीवन व्यतीत करते हैं, दिन में संतों की समाधियों की परिक्रमा करते हैं और अपनी छोटी-सी कुटिया में रात्रि-यापन करते हैं। वे कुलीन और पवित्रात्मा हैं और सामरिक कला में निपुण और दक्ष। मीर सैयद मुहम्मद की उपाधि नूर बख़्शी है। शेख़ मुहम्मद-अल्-अहजी (जो अपने को मीर सैयद का शिष्य

कहता है) ने शेख मुहम्मद तबरीज़ी कृत 'गुलशने-राज़' की टीका लिखी थी जिसमें महदी सिद्धान्तों की व्याख्या थी। अल्-अहजी की मृत्यु सन् ६८३ हिजरी में हुई थी। शेख़ अब्दुल्ला, जो नियाज़ी अफ़गान था, मीर सैयद मुहम्मद के साथ मक्के की यात्रा में गया था। वहाँ से लौटकर उसने बियाने को अपना निवास-स्थान बनाया। पहले वह शेख़ सलीम चिश्ती का शिष्य था। पीछे चलकर सैयद के प्रभाव में आया। प्रार्थना के समय जो भी मार्ग में मिलता, चाहे वह मज़दूर, नौकर अथवा साधारण से साधारण व्यापारी ही क्यों न हो, उसे नमाज़ पढ़ने के लिए विवश करता था। शेख़ अलाई, जो स्वयं प्रसिद्ध परम्परावादी था, महदी मत में दीक्षित हुआ और कुछ समय के पश्चात् उसने अपने को 'महदी' घोषित किया। अपने शिष्यों के दल को उसने सैन्य-संगठन का रूप दिया जो सदा अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहता था। यदि उसके अनुयायी किसी को अधार्मिक कृत्यों में संलग्न देखते तो अनुनय-विनय द्वारा पहले सुधारने की चेष्टा करते, किन्तु अनुनय-विनय द्वारा असफल होने पर अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से भी नहीं चूकते थे। इस्लामशाह सूर (शेरशाह के पुत्र सलीमशाह) के समक्ष यह आक्षेप किया गया था कि शेख अलाई क्रान्तिकारी है और महदी होने का दावा करता है एवं महदी ही सारे संसार का सम्राट् होगा। इस्लामशाह की सभा में जो विवाद हुआ, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय महदी के आगमन की चर्चा सर्वाधिक प्रबल थी। मीर मियाँ सैयद मुहम्मद नूर बख़्शी की मृत्यु ६१० हिजरी में हुई।"

इस चर्चा में पद्मावत और जायसी के बारे में डॉ० रामखेलावन पाण्डेय निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं —

> "जायसी महदवी मत के अनुयायी थे जिसका प्रवर्तन मीर मियाँ मुहम्मद जौनपुरी ने किया था। उनके गुरु का नाम था शेख़ बुरहान जिनसे यौगिक क्रियाओं का सामान्य ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था। महदवी मत के उत्थान में राजनीतिक संकट की गन्ध मानी गयी थी। इसके प्रवर्तक में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य एवं सांस्कृतिक संगम की प्रेरणा एवं भावना नहीं थी। इस्लाम की परंपरागत मान्यताओं से च्युति का विरोध करने के लिए इस मत का प्रवर्तन हुआ था। जायसी में इस परंपरा के निर्वाह की आकांक्षा थी। सांस्कृतिक संगम के उदार पक्षपाती की अपेक्षा वे इस्लाम की गौरव-वृद्धि के आकांक्षी थे। इस्लाम के गौरव की ही उन्होंने गाथा गायी है।"

महदवी शेख अलाई की शकल में जिस जुझारू रज़ाकार की तसवीर हमारे सामने प्रस्तुत की गयी है, उसके साथ जायसी की चूल बैठाना असंभव है।

कहता है) ने शेख मुहम्मद तबरीज़ी कृत 'गुलशने-राज़' की टीका लिखी थी जिसमें महदी सिद्धान्तों की व्याख्या थी। अल्-अहजी की मृत्यु सन् ६८३ हिजरी में हुई थी। शेख़ अब्दुल्ला, जो नियाज़ी अफ़ग़ान था, मीर सैयद मुहम्मद के साथ मक्के की यात्रा में गया था। वहाँ से लौटकर उसने बियाने को अपना निवास-स्थान बनाया। पहले वह शेख़ सलीम चिश्ती का शिष्य था। पीछे चलकर सैयद के प्रभाव में आया। प्रार्थना के समय जो भी मार्ग में मिलता, चाहे वह मज़दूर, नौकर अथवा साधारण से साधारण व्यापारी ही क्यों न हो, उसे नमाज़ पढ़ने के लिए विवश करता था। शेख़ अलाई, जो स्वयं प्रसिद्ध परम्परावादी था, महदी मत में दीक्षित हुआ और कुछ समय के पश्चात् उसने अपने को 'महदी' घोषित किया। अपने शिष्यों के दल को उसने सैन्य-संगठन का रूप दिया जो सदा अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहता था। यदि उसके अनुयायी किसी को अधार्मिक कृत्यों में संलग्न देखते तो अनुनय-विनय द्वारा पहले सुधारने की चेष्टा करते, किन्तु अनुनय-विनय द्वारा असफल होने पर अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से भी नहीं चूकते थे। इस्लामशाह सूर (शेरशाह के पुत्र सलीमशाह) के समक्ष यह आक्षेप किया गया था कि शेख़ अलाई क्रान्तिकारी है और महदी होने का दावा करता है एवं महदी ही सारे संसार का सम्राट् होगा। इस्लामशाह की सभा में जो विवाद हुआ, उससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय महदी के आगमन की चर्चा सर्वाधिक प्रबल थी। मीर मियाँ सैयद मुहम्मद नूर बख़्शी की मृत्यु ६१० हिजरी में हुई।"

इस चर्चा में पद्मावत और जायसी के बारे में डॉ० रामखेलावन पाण्डेय निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचने हैं—

> "जायसी महदवी मत के अनुयायी थे जिसका प्रवर्तन मीर मियाँ मुहम्मद जौनपुरी ने किया था। उनके गुरु का नाम था शेख़ बुरहान जिनसे यौगिक क्रियाओं का सामान्य ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था। महदवी मत के उत्थान में राजनीतिक संकट की गन्ध मानी गयी थी। इसके प्रवर्तक में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य एवं सांस्कृतिक संगम की प्रेरणा एवं भावना नहीं थी। इस्लाम की परंपरागत मान्यताओं से च्युति का विरोध करने के लिए इस मत का प्रवर्तन हुआ था। जायसी में इस परंपरा के निर्वाह की आकांक्षा थी। सांस्कृतिक संगम के उदार पक्षपाती की अपेक्षा वे इस्लाम की गौरव-वृद्धि के आकांक्षी थे। इस्लाम के गौरव की ही उन्होंने गाथा गायी है।"

महदवी शेख अलाई की शकल में जिस जुझारू रज़ाकार की तसवीर हमारे सामने प्रस्तुत की गयी है, उसके साथ जायसी की चूल बैठाना असंभव है।

पद्मावत की कथा, उसकी रचनात्मक बनावट, सांस्कृतिक और नैतिक प्रश्नों पर पद्मावत में अनुस्यूत दृष्टि—पद्मावत का सब कुछ डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के निष्कर्ष के विरुद्ध पड़ता है।

जायसी के बारे में जो निष्कर्ष डॉ० रामखेलावन पाण्डेय ने निकाला है, वह बिलकुल अभूतपूर्व हो—ऐसा शायद नहीं है। कहीं-कहीं अन्यत्र भी इस दृष्टिकोण का संकेत मिल जाता है। शायद इसी दृष्टि से मिश्रबन्धुओं ने जायसी को हिन्दी के रत्नों में स्थान नहीं दिया। या, आज से पहले भी जिन लोगों ने सूरदास को सूरज, तुलसीदास को चन्द्रमा और शेष कवियों को जुगनू कहकर निपटा दिया, उन लोगों ने भी जायसी को हिन्दी के उन भीतरी कवियों में स्थान नहीं दिया जिनकी चर्चा समीचीन थी।

लेकिन यह कहना भी ज़रूरी है कि पिछले पचास वर्षों में अधिकांश आलोचकों की राय ऐसी नहीं है। उन्होंने जायसी को सैयद मुहम्मद महदी का चेला तो माना, लेकिन बिना इसकी छानबीन किये कि महदीयत के चरित्र और तसव्वुफ़ के चरित्र में क्या अन्तर है, जायसी को उसी गुरु-परंपरा के आधार पर सूफ़ी मान लिया। यहाँ तक कि यह लगभग हिन्दी की बद्धमूल धारणा हो गयी है कि पद्मावत एक सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य है और पद्मावत की चर्चा हिन्दी कविता के उस कोने में होनी चाहिए जहाँ जायसी के समकक्ष कुतबन और मंझन दिखते हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की शृंखला कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास की है, यह दृश्य अक्सर आँखों से ओझल हो जाता है।

इसी तरह शेख़ बुरहान का नाम भी है। कालपी वाले शेख़ बुरहान का उल्लेख अबुल फ़ज़ल की 'आईने-अकबरी' में भी है और कादिर बदायूँनी के 'मुंतख़ाबुल-तवारीख़' में भी। अबुल फ़ज़ल शेख़ बुरहान का नाम आदर के साथ लेता है और बदायूँनी अनादर के साथ। बदायूँनी की शिकायत है कि शेख़ बुरहान को अरबी एक अक्षर नहीं आती और उनका रंग-ढंग हिन्दुओं के बहुत क़रीब है। 'आईने-अकबरी' में भी शेख़ बुरहान को उन दूसरे दर्जे के साधुओं में रखा गया है जो बातिनी अर्थात् भीतर परिज्ञान में पहुँचे हुए हैं, लेकिन बाहरी अर्थात् धर्म के पाण्डित्य और दर्शन आदि के प्रश्न पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अगर ये शेख़ बुरहान वही हैं जिनका उल्लेख जायसी ने 'अगुआ भयउ शेख बुरहानू' कहकर किया है तो बदायूँनी के सैयद मुहम्मद महदी और शेख़ बुरहान में तालमेल बिठाना कठिन जान पड़ता है।

———

२

जायसी का व्यक्तित्व

साधुओं और गुरुओं का नामोल्लेख करने के अतिरिक्त जायसी ने कुछ थोड़े से संकेत अपने बारे में दिये हैं। ये संकेत इतने थोड़े से हैं कि हम अधिक से अधिक जायसी के व्यक्तित्व के बारे में अनुमान ही लगा सकते हैं। वस्तुतः गुरुओं और साधुओं की छानबीन भी हमारे लिए इसीलिए समीचीन है कि शायद उनके द्वारा हम जायसी के व्यक्तित्व के विषय में भी कुछ अनुमान कर सकें। वर्ना ये साधु लोग सूफ़ी थे या नहीं, थे तो किस दर्जे के और धार्मिक, सामाजिक तथा सत्ता-सम्बन्धी प्रश्नों पर उनका क्या रवैया था—इसकी पड़ताल इतिहास की कुछ दिलचस्प जानकारी भले ही दे दे, जायसी के काव्य, विशेषतः पद्मावत को समझने के लिए बहुत आवश्यक नहीं है। इसी दृष्टि से विद्वानों ने इस सूची को काफ़ी मथा, लेकिन जैसा हमने देखा, मथने के बावजूद काफ़ी प्रश्न अनुत्तरित रह गये; या जो उत्तर निकले भी, वे काफ़ी असन्तोषप्रद रह गये।

काफ़ी कुछ तो जायसी ने कवि-सुलभ मीठी गर्वोक्तियों में अपने विषय में कहा है जिस पर हमने पहले विचार किया। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने मन में अच्छी तरह बिठा लें कि पद्मावत का लेखक अपने को आग्रहपूर्वक कवि के रूप में मनवाना चाहता है; उसे आप सूफ़ी या साधु भी मानें, ऐसा कोई आग्रह उसका नहीं है। जायसी के बारे में कुछ किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। कहा तो यहाँ तक गया कि जायसी न केवल सन्त थे, बल्कि पहुँचे हुए सिद्ध थे, उनके आशीर्वाद से सन्तान पैदा होती थी। वे इच्छानुसार परकाया-प्रवेश कर सकते थे। आदमी से शेर बन सकते थे और उनकी मृत्यु कब और कैसे होगी, यह भी जानते थे। अगर ये सब किंवदन्तियाँ सही हैं तो आश्चर्य की बात यही है कि क्या 'आईने-अकबरी', क्या 'मुन्तख़ाबुल-तवारीख़' में जिसमें उस समय के बहुत से छोटे-बड़े फ़क़ीरों का ज़िक्र है, मलिक मुहम्मद जायसी नाम के सिद्ध पुरुष का उल्लेख क्यों नहीं है? लगता है, ये सब किंवदन्तियाँ बाद में गढ़ी गयी हैं जब धीरे-धीरे जायसी का 'बाबा' रूप निर्मित होने लगा और उनके मजार के नाम पर जायस या अमेठी वालों ने मठ बनाने की कोशिश की। अनुमान लगाने की यह तर्क-पद्धति बहुत सन्तोषप्रद नहीं है, परन्तु प्रचलित अनुमानों

और किंवदन्तियों के ऊपर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए यह तर्क बिलकुल ठीक है। और फ़िलहाल, उद्देश्य प्रश्नचिह्न लगाने का ही है।

इस प्रश्नचिह्न के बाद हम उस अंश पर विचार करें जिसमें जायसी ने अपने चार मित्रों का वर्णन किया है। आश्चर्य की बात है कि विद्वानों ने इस अंश पर विचार किया ही नहीं है, जायसी के व्यक्तित्व के विषय में अनुमान लगाने में इस अंश से मदद लेना तो दूर की बात है। आख़िर आदमी के व्यक्तित्व का अन्दाज़ उसके दोस्त किस तरह के हैं, इससे भी लगता है। जायसी द्वारा अपने चार मित्रों का उल्लेख और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मसनवी पद्धति में (यदि हम पद्मावत को मसनवी पद्धति का काव्य मानें) ईश्वर, पैगम्बर, शाहे-वक़्त और गुरु की स्तुति के अतिरिक्त दोस्तों का उल्लेख करने की कोई परिपाटी नहीं है। ऐसा लगता है कि जायसी का उद्देश्य अपने काव्य के साथ अपने दोस्तों को भी अमर कर देने का ही था। या, इन दोस्तों ने ही अपना नाम अपने दोस्त की कविता में डलवा कर अपने अमर हो जाने का इन्तज़ाम करवा लिया। दोनों ही स्थितियों में इन दोस्तों और जायसी में काफ़ी घनिष्टता थी। और इन गुमनाम मित्रों को अमरत्व की गारण्टी तो मिल ही गयी। जायसी कहते हैं :

चारि मीत कबि मुहमद पाये। जोरि मिताई सरि पहुँचाए।।
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी। पहिलैं भेद बात उन्हँ जानी।।
पुनि सलार काँदन मति माहाँ। खाँडै दान उभै निति बाहाँ।।
मिआँ सलोने सिंघ अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू।।
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कइ अदेस सिद्धन्ह बड़ माने।।
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गोसाईं गढ़े।।
बिरिख जो आर्छाहि चंदन पासाँ। चंदन होहिं बेधि तेहि बासाँ।।

मुहमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकइ चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरन कित्त ।।१।२२।।

इस तरह यूसुफ़ मलिक, सलार, मियाँ सलोने और बड़े शेख़, ये चार दोस्त हुए। इन चारों की पहचान पद्मावत के अतिरिक्त निश्चित करने का कोई प्रयास अब तक सफल नहीं हुआ है, यद्यपि जायस में कुछ लोग उनमें से किसी एक के वंशज होने का दावा करते हैं। यूसुफ़ मलिक 'पंडित औ ज्ञानी' हैं। जायसी की भाषा में 'पंडित औ ज्ञानी' का आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। इसका अर्थ पढ़ा-लिखा, बुद्धिमान और शायद तजुर्बेकार आदमी हुआ। जायसी के बारे में यह भी कहा गया है कि वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे। उनकी विद्या वहीं तक सीमित

थी जहाँ तक एक मिलनसार और बहुश्रुत गाँव वाले की होती है । इस धारणा के लिए कोई आधार नहीं है । इसके विपरीत, अगर यूसुफ़ मलिक पंडित और ज्ञानी थे तो उचित धारणा यही बनती है कि उनके मित्र मुहम्मद मलिक भी वैसे ही या कुछ अधिक पंडित और ज्ञानी थे । यूसुफ़ मलिक ने सबसे पहले, संभवतः इन चारों मित्रों में सबसे पहले 'भेद-बात' जानी । हमारे पास इसको तय करने का कोई साधन नहीं है कि वह कौन-सी भेद-बात थी जिसका 'राज़दार' जायसी ने यूसुफ़ मलिक को बनाया । इसका अर्थ सामान्यतः उतना हीं हो सकता है जितना फ़ारसी के शब्द 'हमराज़' में गहरे दोस्त के लिए कहा जाता है । या, शायद विशेष 'भेद-बात' यह हो कि जायसी ने यूसुफ़ मलिक को ही सबसे पहले बताया कि वे पद्मावत जैसा महत्त्वाकांक्षी और महत्त्वपूर्ण काव्य रचने जा रहे हैं । दिमाग़ पर बहुत ज़ोर देकर मैं यह कल्पना भी कर सकता हूँ कि अगर यूसुफ़ मलिक जायसी की जवानी के दिनों के दोस्त रहे हों तो यह भेद की बात कोई प्रेम का चक्कर भी हो सकती है जिसने जायसी को काफ़ी हिला दिया हो । कम से कम एक जगह तो जायसी अपने को विरह का सताया हुआ घोषित करते ही हैं :

> जेहि के बोल बिरह के घाया । कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया ॥
> फेरे भेस रहइ भा तपा । धूरि लपेटा मानिक छपा ॥

अन्यत्र भी जायसी ने कहा है :

> मुहमद बाईं दिसि तजे एक सरवन एक आँखि ।
> जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि ॥

शायद, इस दोहे में भी किसी व्यक्तिगत घटना या दुर्घटना का संकेत है । आगे हम 'आख़िरी कलाम' के भी कुछ अंशों पर इस सन्दर्भ में विचार करेंगे ।

जायसी की 'भेद-बात' को रहस्य ही छोड़कर हम अन्य मित्रों की ओर भी देखें । एक महानुभाव सलार नामधारी हैं । पाठान्तर के साथ एक छोटा-सा इतिहास भी हो गया । शुक्ल जी के पाठ में ये हज़रत सलार ख़ादिम थे—'पुनि सलार ख़ादिम मति माहाँ', डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सही पाठ 'पुनि सलार काँदन मति माहाँ' स्थिर किया । लेकिन 'सलार काँदन' पूरा एक नाम मानकर 'बुद्धिमान सलार कादन' ऐसा अर्थ किया । डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने जायसी का वास्तविक अर्थ पकड़ा—अर्थात्, सलार जिनकी मति में लड़ाई-झगड़ा (काँदन) ही भरा है । डॉ० अग्रवाल ने इस अर्थ को स्वीकृति देते हुए कहा कि यह कुछ क्लिष्ट पाठ था, अतः इसे 'सलार खादिम' आदि संशोधनों द्वारा सरल करने का प्रयास परवर्ती लिपिकारों ने किया । परन्तु हम 'सलार'

नामक दोस्त के इस परिचय में जो ईषत् स्नेहयुक्त चुटकी है, उसकी ओर देखें तो जायसी की शैली का भी स्पर्श प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः हल्की मीठी चुटकी लेना या ऊपर से सरल दिखता हुआ, लेकिन भीतर से उभरता हुआ व्यंग्य जायसी की शैली की विशेषता है। आगे जायसी की इस शैलीगत विशेषता को देखने के और भी अवसर आयेंगे। अभी हम सलार की ओर कुछ और देखें। ये सलार 'काँदन मति माहाँ', अर्थात् नाक पर सुपारी भाजने वाले तो हैं ही, इनकी ख़ासियत यहाँ तक है कि बात-बात पर खाँडा लेकर खड़े हो जाते हैं—'खाँडै दान उभे निति बाहाँ।' और यदि हम 'उभे' की रियायत को ध्यान में रखें तो 'उभे' का दूसरा अर्थ 'दोनों' भी पास ही में मँडराता दिखेगा और तब पीछे से एक ऐसा अर्थ भी झाँकता दिखेगा कि इनकी बाँह न सिर्फ़ खाँडादान के लिए उठती है, बल्कि जब देखें तब दोनों में खाँडा लिए फुफकारना शुरू कर देते हैं। सलार का न सिर्फ़ परिचय दिया गया है, बल्कि जैसा मैंने ऊपर कहा, एक मीठी चुटकी भी ली गयी है।

तीसरे मित्र मियाँ सलोने हैं जिनमें सिंह की भाँति अपार वीरता है और वे रणक्षेत्र में खड्ग का जुझारूपन दिखलाते हैं। स्पष्टतः मियाँ सलोने पेशे से सिपाही हैं और जैसा उस काल में होता था, युद्ध से फ़ुरसत के समय खेती करते होंगे। खेती का उल्लेख जायसी ने नहीं किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में इनका नाम सलोने सिंह पढ़ा है और कहा है कि जायसी ने उनके नाम के आगे मियाँ जोड़ दिया है। उनका आशय है कि शायद सलोने सिंह हिन्दू थे और मियाँ यहाँ ख़ामख़ाह की उपाधि है। यह मत समीचीन नहीं लगता।

चौथे मित्र बड़े शेख़ नाम से उल्लिखित हैं। ये बड़े सिद्ध हैं और सभी सिद्ध उनको 'अदेस' कहकर आदर देते हैं। इस समय के साधुओं की सूची जिन विद्वानों ने बनाई है, उसमें जायस या अमेठी के इन 'बड़े शेख' की पहचान नहीं हो सकी है। अगर हम ध्यान में रखें कि जायसी केवल कवि थे और उनका नाम ख़ुद चिश्तिया या महदवी किसी गुरु-शिष्य शाखा-प्रशाखा में कहीं उल्लिखित नहीं हुआ है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आख़िरकार 'बड़े शेख़' जैसे भी 'सिद्ध' रहे हों, उतने बड़े तो हरगिज़ नहीं हो सकते कि जायसी उन्हें मीत की श्रेणी से हटाकर अपने लिए गुरु, मुरशिद या पीर की श्रेणी में रख देते। अतन्तः वे कवि जायसी के मित्र ही हैं। 'कहि अदेस सिद्धन्ह बड़ माने'—इस उक्ति से विशेष बड़प्पन का अर्थ नहीं लेना चाहिए। आज भी हिन्दू साधुओं के कुछ अखाड़ों में सभी साधू एक-दूसरे को 'अदेस' कहकर प्रणाम करते हैं। हम यह मान सकते हैं

कि बड़े शेख़ एक सामान्य, धर्मभीरु और साधु स्वभाव के व्यक्ति थे और सामान्य दरवेशों से आदरपूर्वक प्रणाम के अधिकारी थे। डॉ० अग्रवाल के अनुसार 'अदेस' शब्द का प्रणामवाचक अर्थ नाथों और सिद्धों में प्रचलित था। पद्मावत में जायसी ने अन्यत्र पद्मावली के मुँह से कहलाया है—'जोगी अँवर भिखारी इन ते दूर अदेस।' अर्थात्, इन तीनों से दूर से ही नमस्कार ठीक है।

जायसी के ये चारों मित्र अलग-अलग ढंग के हैं—विद्वान्, बाँके, सिपाही और साधूवत्। इतने तरह के लोगों से एकसाथ न सिर्फ़ दोस्ती, बल्कि पक्की दोस्ती निभाने का काम जायसी जैसा कवि ही कर सकता था जिसकी प्रतिभा और बौद्धिकता में बहुत से और विविध जीवनानुभवों को पचा लेने की क्षमता थी।

इन चार मित्रों के अतिरिक्त पाँचवें जायसी ख़ुद थे। चारों का परिचय देने के बाद जायसी कहते हैं :

चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े । औ संग जोग गुसाईं गढ़े ।।
बिरखि जो आछहिं चंदन पासाँ । चंदन होहिं बेधि तेहि बासाँ ।।
मुहमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकइ चित्त ।
एहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरन कित्त ।।

चारों चौदह विद्याएँ पढ़े हुए हैं। चौदह विद्याओं का निरूपण इस प्रकार किया गया है : चार वेद, छह वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र। स्पष्ट है कि चतुर्दश विद्या का यह पारिभाषिक अर्थ जायसी को अपने मुसलमान मित्रों के प्रसंग में अभिप्रेत नहीं है। जायसी पद्मावत में तथा अन्यत्र भी हिन्दू पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मुस्लिम धार्मिक, साम्प्रदायिक या सांस्कृतिक सन्दर्भों में करते हैं। जैसा हमने ऊपर 'शेख़ बड़े' के सन्दर्भ में 'सिद्ध' और 'अदेश' शब्दों को देखा। इस नितान्त नई बौद्धिक भंगिमा से जायसी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अनुप्राणित है। पारिभाषिक शब्दावली को इस तरह घुलाने, लचीला बनाने और अर्थ-विस्तार द्वारा सांस्कृतिक मिश्रण तैयार करने की कुछ शुरुआत मुल्ला दाऊद के 'चन्दायन' और उससे कुछ बड़े पैमाने पर सन्त कवियों कबीर आदि में मिलती है। लेकिन 'चन्दायन' में इतने बड़े सांस्कृतिक मिश्रण का अवसर नहीं है। कबीरदास की शब्दावली चूँकि हिन्दू-तुरुक, दोनों को काटती है, अतः उसमें अर्थ के फैलने की तुलना में एक नये सम्प्रदाय और फलतः नई रूढ़ पारिभाषिक शब्दावली के निर्मित होने की संभावना अधिक है। कबीरदास में शब्दावली का विद्रोह है और नये संदर्भ की खोज है।

जायसी में शब्दावली की अद्भुत स्थानान्तरणशीलता है और द्विधा भक्त सन्दर्भों को घुलाकर एक कर देने की क्षमता है।

इस बात को प्रसंगांतर से न कहकर संभवत: जायसी की बौद्धिक चेतना के अधिक विस्तृत विवेचन के रूप में रखना उचित होगा। शायद आगे इसका अवसर आये। सम्प्रति इस चर्चा में एक अन्य रोचक सन्दर्भ का उल्लेख करके हम जायसी की मित्र-मण्डली की ओर वापस आयेंगे। फ़ारसी शायरी में जायसी से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले फिरदौसी के सामने भी कुछ ऐसी ही समस्या थी जब उसने 'शाहनामा' लिखा। फ़िरदौसी मुसलमान था और ईरानी भी। इस्लाम के साथ ईरान में अरबी धार्मिक-पारिभाषिक शब्दावली का फैलाव आया। फिरदौसी ने अपने काव्य में अरबी शब्दो का बहिष्कार किया और उनकी जगह फ़ारसी भाषा के पुराने और प्रचलित शब्दों को नवीन धार्मिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में प्रयुक्त किया। अरबी अल्लाह, नबी, मलायक आदि का फ़ारसी खुदा, पैग़म्बर, फरिश्ता हो जाने की यही कथा है। इसी सन्दर्भ में हम अल्लाह या खुदा की जगह जायसी के करतार या गुसाईं, नबी या पैग़म्बर की जगह बसीठ, कुरान की जगह पाढ़ित या पुरान और मलक या फरिश्ता की जगह अढ़वायक या 'अढ़वैयन' की सृजनशीलता को समझ सकते हैं। फिरदौसी के कृतित्व से न सिर्फ़ फ़ारसी कविता और सृजनात्मक प्रतिभा को एक शक्तिवान उन्मेष प्राप्त हुआ, बल्कि खुद ईरानी समाज को एक नई पहचान मिली। फिरदौसी के शब्दों में ही "अजम ज़िन्दा करदम बदीं पारसी", अर्थात् मैंने इस फ़ारसी भाषा में अजम (ईरान) को ज़िन्दा कर दिया है। शब्दों की सांस्कृतिक स्थानान्तरणशीलता का आविष्कार करते समय जायसी की भूमिका भी फिरदौसी जैसी ही है। यह कहना इसलिए भी ज़रूरी है कि जायसी की समीक्षा में फ़ारसी के रूमी, निज़ामी या जामी जैसे शायरों का काफ़ी ज़िक्र किया गया है, लेकिन विद्वानों ने फ़ारसी के प्रथम मसनवी-लेखक फिरदौसी का ज़िक्र ही नहीं किया। मज़े की बात यह है कि रूमी, जामी, निज़ामी तो बज़्मिया ही लिखते हैं, जबकि फिरदौसी में रज़्मिया और बज़्मिया दोनों ही हैं और उसी तरह जायसी के पद्मावत में भी शृंगार और वीर, दोनों का ही सम्मिश्रण है।

काफ़ी विषयान्तर हो चुका। अब जायसी की मित्र-मण्डली और तत्सम्बन्धी अन्तिम दो चौपाइयों तथा दोहे की ओर मुड़ें। जायसी के मित्र चौदहों गुनों से आपूरित थे, अर्थात् ख़ासे पढ़े-लिखे लोग थे। विद्वानों ने यह भी अनुमान लगाया है कि जायसी बहुश्रुत तो थे, लेकिन बहुपठित नहीं थे। इस अनुमान का कोई आधार नहीं दिखता। बल्कि जिसके मित्र 'चतुरदसौ गुन' पढ़े

हों, उसके बारे में अधिक उपयुक्त यही अनुमान होगा कि उसने चौदह विद्याओं से कुछ अधिक पढ़ा भी होगा और गुना भी होगा।

अन्त में एक बहुअर्थी चौपाई है :

बिरिख जो आछहिं चन्दन पासाँ। चंदन होहिं वेधि तेहि बासाँ ॥

जो वृक्ष चन्दन के पास होते हैं, वे चंदन की बास को वेधकर चन्दन हो जाते हैं। यह चन्दन कौन है? और वे कौन वृक्ष हैं जो उसकी बास पाकर चन्दन जैसे हो गये हैं? जायसी ने इसे अनकहा ही छोड़ दिया है। क्या यह चन्दन वृक्ष जायसी स्वयं हैं? और ये चारों उनके सान्निध्य में चन्दन की तरह सुबासित हो गए हैं? साफ़ कह देने पर इस कविजनित गर्वोक्ति की मिठास जाती रहती है और मिठास तो जायसी ने वहीं से पैदा कर दी जब परिचय की शुरुआत में ही जायसी ने विनम्रतापूर्वक कहा कि कवि मुहम्मद ने चार मित्र पाये और उन चारों ने उससे मित्रता जोड़कर अपने बराबर बना लिए—'जोरि मिताई सरि पहुँचाए'। लेकिन आज जायसी के लगभग चार सौ बरस बाद हम तो इतना कह ही सकते हैं कि जायसी-रूपी चन्दन के लिखे हुए पद्मावत की सुगन्ध तो अभी भी आ रही है और जायसी के साथ यह चार की मित्र-मण्डली भी अनायास ही जायसी की तरह अमर हो गयी है। वे कौन थे, क्या उनके कारनामे थे, यह सब तो हमें नहीं मालूम है। सामने है एक महान् प्रतिभावान् कवि के द्वारा कम से कम शब्दों में दिया हुआ एक जीवित शब्दचित्र, और वे इतने ही से सुगंधित हैं कि जायसी के मित्र थे···चन्दन की बास को बेधकर चन्दन हो गये हैं।

जायसी की मित्र-मण्डली में अलग-अगल स्वभाव वाले लोग थे। उन सबसे जायसी की अच्छी निभी और शायद जायसी की प्रतिभा, उनके कवि-व्यक्तित्व की महानता और हार्दिक विशालता का ही यह फल था कि उन चारों में आपस में भी न सिर्फ़ इस लोक में साथ निभा, वरन् उस लोक में भी बिछुड़ने की संभावना नहीं रह गयी और यह सब हुआ बिना किसी का स्वभाव बदले हुए।

जायसी ने अपने एक आँख के होने का उल्लेख बार-बार किया है। एक स्थान पर तो पूरा कड़वक ही अपनी इस विशेषता पर लिख डाला है। कुछ इस तरह जैसे एक आँख का होना एक अलौकिक बात है और किसी सृष्टि-व्यापी सिद्धान्त के अनुसार गुण का सूचक है :

जौ लहि अंबहि डाभ न होई। तौ लहि सुगँध बसाइ न सोई ॥
कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा। तौ अति भरउ असूझ अपारा ॥

जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा । भा कंचनगिरि लाग अकासा ॥
जौं लहि घरी कलंक न परा । काँच होइ नहिं कंचन करा ॥
एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ ।
सब रुपवंत पाँव गहि मुँख जोवहिं कइ चाउ ॥ १।२१॥

इस वक्तव्य को हम जायसी की परिचित मीठी गर्वोक्तियों में गिन सकते हैं। लेकिन अपने कानेपन से जायसी इस क़दर भरे हुए क्यों हैं ? कुछ ही आगे जायसी ने लिखा है—'जेइँ मुँख देखा तेइँ हँसा सुना तो आए आँसु ।' लगता है कि जायसी अपने कानेपन के कारण अक्सर लोगों के परिहास या कभी-कभी उपहास के भी शिकार होते थे। अगर वे सूफ़ी सन्त होते तो अपने बाबा-व्यक्तित्व की चारों ओर चमत्कार और जादू-टोने का घटाटोप बाँधकर उबर जाते, जैसा उस युग में आम बात थी। लेकिन वे केवल प्रतिभाशाली कवि ही थे। उनकी शक्ति अपने निरमल भावों से भरी हुई कविता में ही थी। उनसे विमोहित होने के लिए उनकी कविता को सुनना ज़रूरी था। तब सुननेवालों की आँख से जो आँसू निकलते थे, वही असली चमत्कार था। 'सब रुपवंत पाँव गहि मुँख जोवहिं कइ चाउ' यह कविजनित उक्ति है, सूफ़ी सन्तजनित उक्ति नहीं है ।

जो भी हो, इस पूरे उल्लेख में मूर्खों या काव्य-गुण न समझने वालों द्वारा उपहास और कवि के आहत स्वाभिमान की हल्की-सी प्रतिध्वनि कहीं-न-कहीं सुनाई पड़ती है। मैं अक्सर सोचता हूँ कि यदि मैं जायसी का दोस्त सलार होता जिसकी मति में काँदन भरा हो और जो हर बात पर खाँडा उठाने को तत्पर रहता, तो मेरा एक काम यह भी होता कि मेरे मित्र जायसी पर कोई हँसता तो जायसी चाहे मुझे रोकते ही, लेकिन मैं ज़रूर एक बार खाँडा उठाकर दौड़ पड़ता।

शायद हँसने या उपेक्षा करने वालों की कमी नहीं थी। दूर नहीं, जायस में ही ऐसे लोग मौजूद थे, जायसी जिनकी समझ के परे थे :

कबि बिआस रस कँवला पूरी । दूरिहि निअर निअर भा दूरी ॥
निअरहि दूरि फूल सँग काँटा । दूरि जो निअरें जस गुरु चाँटा ॥
भँवर आइ बनखंड हुति लेहिं कँवल कै बास ।
दादुर बास न पावहिं भलेहिं जे आछहिं पास ॥१।२४॥

दूर-दूर से लोग आकर जायसी के काव्य का आनन्द उठाते हैं और ये पास ही बसने वाले दादुर अपने बीच में खिले हुए कमल की गन्ध भी नहीं पाते। धरम-स्थान जायस में ऐसे दादुरों की संख्या अवश्य ही इतनी थी कि

अपनी अप्रतिम शैली में जायसी के लिए चुटकी लेना जरूरी हो गया। मिठास तो इस चुटकी में भी है, लेकिन 'दादुर' और 'कांटा' के प्रयोग में शायद हल्का-सा गुस्सा भी है। इतने गुस्से की अभिव्यक्ति भी जायसी के लिए अपवाद ही है। जिस धर्मप्राण कवि के लिए उनका शैतान नारद भी दया का ही पात्र हो—

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे से मैं हारा।

—अखरावट

उसने यदि थोड़ी-सी भी भृकुटी इन दादुरों पर उठायी है तो हम कल्पना कर सकते हैं कि जायस वालों ने जायसी को काफ़ी उबा दिया होगा।

यदि जायसी सूफ़ी सन्त होते, सिद्ध या असिद्ध फ़कीर होते, आयतें पढ़कर और फूंककर बीमारियाँ दूर करते होते, निस्सन्तान राजाओं को सन्तान देते होते, दिल्ली की सरकार तक पहुँचवाले होते, मन्तर से भूत-प्रेत भगाते होते तो इन काँटों और दादुरों पर लानत भेजने की जरूरत ही क्यों पड़ती? भला किसी चमत्कारी पुरुष ने यह शिकायत की है कि पास के दादुर उसे नहीं सेटते?

अगर हम जायसी के व्यक्तित्व को एक सामान्य मनुष्य, अत्यन्त प्रतिभावान् कवि और दिल मिलानेवाले दोस्त की तरह ही देखें तो शायद जायसी के अपने बारे में दिए हुए संकेतों को ज्यादा ठीक समझ पायेंगे। मध्ययुग के कवियों ने अपने बारे में इससे भी कम संकेत दिए हैं। जायसी ने तो कुछ ज्यादा आगे बढ़कर बहुत-सी बातें कहीं हैं।

पद्मावत में एक और रहस्यमय संकेत जायसी ने अपने बारे में दिया है:

मुहमद बाईं दिसि तजे एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि ॥२१॥८॥

क्या जायसी कभी वाममार्ग के चक्कर में भी पड़े थे जिसे उन्होंने एक आँख और एक कान गँवाकर छोड़ दिया? सिद्धों और नाथों का योग सम्प्रदाय, शैवों का निर्गुण योगमार्ग, शाक्तमार्ग—ये सब उस समय के बायें मार्ग थे। इसके अलावा मुसलमान दरवेशों में भी जादू-टोना, जंतर-मंतर, तंत्रवाद और हठयोग इन सब चमत्कारों का समावेश था। इस प्रश्न का उत्तर दे सकना कठिन है:

इस प्रसंग में एक अन्य विचित्र और कुछ रहस्यमय संकेत हमें 'आख़िरी कलाम' में मिलता है। इस कृति के आरंभ में वन्दना आदि के उपरान्त आत्मोल्लेख के रूप में अग्रलिखित तीन कड़वक आते हैं:

जायस नगर मोर अस्थानू । नगर का नाँव आदि उदयानू ।।
तहाँ दिवस दस पहुने आएउँ । भा बैराग बहुत सुख पाएउँ ।।
सुख भा सोचि एक दिन मानौं । ओहि बिन जिवन मरन कै जानौं ।।
नैन रूप सो गएउ समाई । रहा पूरि भर हिरदय छाई ।।
जहवैं देखौं तहवैं सोई । और न आव दिस्टि तर कोई ।।
आपुनि देखि देखि मन राखौं । दूसर नाहिं सो कासौं भाखौं ।।
सबै जगत दरपन कै लेखा । आपन दरसन आपुहि देखा ।।

अपने कौकुत कारन मीर पसारिन हाट ।
मलिक मुहम्मद बिहनैं होइ निकसिन तेहि बाट ।।१०।।

धूत एक मारत शनि गुना । कपट रूप नारद करि चुना ।।
नाँव न साधु साधि कहवावै । तेहि लगि चलै जो गारी पावै ।।
भाव गाँठि अस मुख कर भाँजा । कारिख तेल घालि मुख माँजा ।।
परतहि दीठि धरत मोहि लेखे । दिनहि माँझ अँधियर मुख देखे ।।
लीन्हें चंग रात दिन रहई । परपँच कीन्ह लोगन मँह चहई ।।
भाइ बन्धु मँह लाई लावै । बाप पूत मँह कहै कहावै ।।
मेहरि भेस रैनि कै आवै । तरपड़ कै पूरुख ओनवावै ।।

मन मैली कै हारी ठगै न पायौ काहु ।
बरजेउ सबहि मुहम्मद अस जिन तुम पतियाहु ।।११।।

अंग चढ़ावहु सूरी भारा । जाइ गहौ तब चंग अधारा ।।
जो काहू सौ आनि चिहूँटै । सुनहु मोर बिधि कैसे छूटै ।।
उहें नाँव करता कर लेऊ । पढ़ौ पलीता धूआँ देऊ ।।
जौ यह धुवाँ नासिकहि लागै । मिनती करै औ उठि उठि भागै ।।
धरि बाईं लटि सीस झकोरै । करि पाँतर गहि हाथ मरोरै ।।
तबहि सँकोच अधिक ओहि होवै । 'छाड़हु छाड़हु' कहि के रोवै ।।
धरि बाहीं लै थुका उड़ावै । तासौं डरै जो ऐस छुड़ावै ।।

है नरकी औ पापी टेढ़ बदन औ आँखि ।
चीन्हत उहै मुहम्मद झूठ भरी सब साखि ।।१२।।

यह उद्धरण मैंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पाठ से दिया है । डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी अपनी 'जायसी ग्रन्थावली' में 'आख़िरी कलाम' का पाठ दिया है । शुक्ल जी और डॉ० गुप्त के पाठ में पर्याप्त भिन्नता है । कहीं-कहीं तो ऐसी है कि अर्थ लगभग विपरीत-सा होता दिखता है । वस्तुतः 'आख़िरी कलाम' की रचना की प्रामाणिकता और शुद्ध पाठ पर उतने परिश्रम का अवसर नहीं प्रस्तुत हुआ जितना पद्मावत के साथ संभव हुआ । डॉ० गुप्त

ने कहा है कि शुक्ल जी के पास उर्दू अक्षरों में इसका कोई मुद्रित संस्करण था जिससे उन्होंने देवनागरी पाठ बनाया। डॉ० गुप्त को भी कोई प्राचीन हस्तलिपि न मिली। उन्हें भी वही क्रिया करनी पड़ी। इस ग्रंथ का पाठ असंतोषजनक है। किन्तु कोई उपाय न था। गुप्त जी ने यह नहीं बताया कि उर्दू अक्षरों में मुद्रित प्रति उनके पास भी वही थी जो शुक्ल जी के पास थी, अथवा कोई अन्य। वस्तुतः अपनी मूल मुद्रित प्रति का कोई ब्योरा न शुक्ल जी ने दिया है, न गुप्त जी ने। आश्चर्य की बात है कि अपने पाठ और शुक्ल जी के पाठ में पर्याप्त भिन्नता होते हुए भी गुप्त जी ने इस पर कोई विचार व्यक्त नहीं किया है।

उदाहरण के लिए दसवें कड़वक में शुक्ल जी की तीसरी अर्धाली 'सुख भा सोचि एक दिन मानौं' की जगह गुप्त जी का पाठ है :

सुख भा सोच एक दुख मानौं। ओहि बिन जिवन मरन कै जानौं॥

इस तरह ग्यारहवें कड़वक का आरंभ है 'धूत एक मारत घन गुना।' इसी प्रकार अन्य बहुत से पाठान्तर हैं जो अर्थ को जटिल ही नहीं, लगभग असम्प्रेष्य बना देते हैं। दोनों पाठों में शुक्ल जी के पाठ में से ही कुछ अर्थ निकाले जा सकते हैं, यद्यपि यहाँ भी काफ़ी दुरूहता और अस्पष्टता तो है। शायद यह अस्पष्टता कवि द्वारा जानबूझ कर रखी गयी है। कहना कठिन है।

लगता है कि जायस में आने के बाद कवि को किसी महत्त्वपूर्ण घटना या अनुभूति से साक्षात्कार हुआ। कोई ऐसा जिसके बिना ज़िन्दगी मौत के समान हुई और बैराग से मिलने वाला सुख मानो एक दिन दुःख ही हो गया। फिर सब जगह वही दिखने लगा या लगी। जायसी उसे देख-देखकर अपने में ही छिपा रखते थे, कोई और नहीं था जिससे कहते। मीर ने अपने कौतुक के लिए बाजार लगाया। मलिक मुहम्मद सवेरे ही सवेरे उस रास्ते हो निकले।

यह सब क्या है ? शुक्ल जी ने 'मीर' का अर्थ परमेश्वर किया है—तो यह सब क्या सहसा परमेश्वर का साक्षात्कार मिल जाने का अनुभव है ? फिर यह कोई आवश्यक नहीं है कि बैराग का अर्थ संसार से विरक्ति हो। वस्तुतः कामोद्रेक, विरह-विकार और आशिक़ी का जन्म, इस सबके साथ मिलकर ही बैराग की संगति बैठती है। यह वैराग्य जो मनोहर मन को सब तरफ़ से हटाकर मधुमालती पर केन्द्रित कर देता है, अपनी सघनता में सुख देने वाली, लेकिन तीव्र आवेग में जान-लेवा छटपटाहट, 'जीवन-मरन' जैसा दिखने लगता है, वाली आसक्ति है।

इस अर्थव्याप्ति को ध्यान में रखने पर लगता है कि जायस में संभवतः ससुराल आने के बाद कवि को अपने जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना या अनुभूति से साक्षात्कार हुआ। इस साक्षात्कार के कारण मन गहरी आसक्ति में पड़ गया। इस आसक्ति में सुख भी था और अजब छटपटाहट भी। फिर सब जगह वही दिखने लगा या लगी। आँखों में वही रूप समा गया। हृदय आपूरित हो गया और कोई आँखों में दिखता ही नहीं था। अपना देखा हुआ जायसी खुद ही देखते थे। अपने मन में छिपाये हुए थे। दूसरा कोई हमराज़ भी नहीं था जिससे कहते। अपने आनन्द के लिए 'मीर' ने बाज़ार लगायी। एक दिन सुबह मलिक मुहम्मद उस रास्ते जा निकले।

यह 'ओहि' कौन है जिसके बिना ज़िन्दगी मौत-जैसी हो गयी ? और ये 'मीर' कौन हैं जिन्होंने बाज़ार लगायी। मीर का सामान्य अर्थ है—सरदार, मुखिया, प्रशासक। उस समय स्थानीय प्रशासकों को मीर कहा जाता था। शुक्ल जी ने कहा है कि यहाँ मीर का अर्थ परमेश्वर है। तो यह सब क्या परमेश्वर के साक्षात्कार का अनुभव है ? परन्तु परमेश्वर के लिए 'मीर' का प्रयोग जायसी ने अन्यत्र कहीं नहीं किया है। फिर इतना बड़ा साक्षात्कार एक झलक दिखलाकर ख़त्म क्यों हो जाता है ? अगले ही कड़वक में किसी ऐसी औरत का ज़िक्र क्यों शुरू हो जाता है जो कपटी है, गुणों को गिन-गिन कर मारती है, शैतान की चुनी है, साध्वी कहलाती है, लेकिन उसका आग्रह है कि नाम न साधो, जो उसके साथ चले वह गाली पाता है, मुख पर ऐसा भाव लाकर हाथ चमकाती है, तेल और कालिख मिलाकर मुँह पर लगाती है, दृष्टि पड़ते ही छल लेती है, उसका मुख देखने से दिन में भी अँधेरा हो जाता है, दिन-रात चंग लिए रहती है, लोगों में प्रपंच करना चाहती है, भाई-बन्धु और माँ-बाप में लड़ाई करवा देती है, रात में स्त्री का वेश धारण करके आती है और पुरुष को नीचे करके झुका देती है, मन को मलिन करके ठगिनी ठग लेती है और जायसी की वर्जना है कि इसका कोई विश्वास न करे।

बारहवें कड़वक में तो इस नारी का रूप ठगिनी का ही नहीं, लगभग चुड़ैल-जैसा हो जाता है। यह चुड़ैल लोगों को लग लेती है। अगर किसी से चिपट जाय तो जायसी इसकी विधि बताते हैं कि कैसे इसे छुड़ाया जाय। अंग पर सूली-भाला चढ़ावो। फिर उसका आधार जो चंग है, उसे पकड़ो। सृष्टि-कर्ता का नाम लो, पलीता पढ़ो और धुआँ दो। जब यह धुआँ नाक में लगेगा तो विनती करेगी और उठ-उठकर भागेगी। बाईं लट पकड़कर सिर को झटका

दो, पैरों के नीचे दबा कर हाथ मरोड़ो, तब उसे अधिक कष्ट होगा और 'छोड़ो, छोड़ो' कह कर रोवेगी। तब बाँह पकड़कर थूक दो। जो इस तरह छुड़ाता है, उससे डरती है। उसका मुंह और आँखें टेढ़ी हैं। वह नरकी और पापी है। जायसी उसे खूब पहचानते हैं। उसकी सभी साखियाँ झूठी हैं।

इस वर्णन में उधेड़-बुन के लिए काफ़ी मसाला है। विवरण न सिर्फ़ विस्तृत, बल्कि काफ़ी विशिष्ट है। जायसी ने इसे एक घटना का सन्दर्भ दिया है जो जायस में आने पर एक दिन हुई। एक तरफ़ तो दसवें कड़वक में वर्णित वह रूप जो हृदय में आपूरित हो गया, फिर एकाएक यह ठगिनी और चुड़ैल। क्या दसवें, ग्यारहवें और बारहवें कड़वक में कोई सम्बन्ध या तारतम्य बनता है? कितने स्तरों की फ़न्तासियाँ यहाँ मिल कर गड्ड-मड्ड हो गयी हैं? क्या यहाँ हम उस 'भेद-बात' की कुछ झलक पा सकते हैं जिसकी जानकारी जायसी के पहले मित्र यूसुफ़ मलिक को हुई?

अगर हम 'मीर' को परमेश्वर मानें तो ग्यारहवें-बारहवें कड़वक में वर्णित नारी को माया का वर्णन मानने की सुविधा का उपयोग कर सकते हैं। कबीर या अन्य सन्तों में माया को ठगिनी, कपटी कहा गया गया है। परन्तु यहाँ विवरण की कुछ विशिष्टताएँ, जैसे चंग, हाथ मटकाना, चुड़ैल की तरह लग जाना, मुँह पर कालिख मिला तेल आदि ठगिनी माया के परम्परागत बिम्बों में नहीं हैं। इसके विपरीत, मंझन की 'मधुमालती' में जब विरह-पीड़ित राजकुँवर प्रेम में पड़ जाने का संकट महामात्य से बतलाता है तो महामात्य उसे समझता है कि औरतें भरोसा करने योग्य नहीं होतीं, उनके चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। उस समय नारी मात्र के वर्णन में थोड़ा-बहुत इसी तरह की झलकियाँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए—

१. तिरियहि आपनि कै कै जगत न जानेउ कोइ।

२. तिरिया जगत माँहि राकसिनी। जनि पतियाहि उपर देखि बनी॥
   जो राचै तो बिरहै जारै। जो बिरचै तो खिन मह मारै॥
   ऊपर निरमल पूनिवँ देही। भीतर स्याम अमावस देही॥

३. दिस्टि परत खिन चित गुन हरै। ग्यान हानि असपरसहिं करै॥

४. जनि पतियाहु मिया जग भली। पुरुष भौंर वह केतुकि कली॥
   आपनि सुख जहवाँ लहि पावै। अधिक तिरी पुरुषहि जिउ लावै॥
   बरबस प्रेम करै बरियाई। पै सत्र अपनी चाँड कै ताई॥

५. बायें अंग तिरिया अवतारू। संतत बायें जानु कुमारू॥
   औ गरंथ पुनि बाएँ कहाई। मूरख सो जो दाहिन लाई॥

यहाँ संदर्भ माया का नहीं है। स्त्री मात्र के धोखेबाज़, छिनाल और कुलच्छन्न होने का है, जैसा 'क़िस्सा तोता-मैना' की आधी कहानियों में चित्रित किया गया है।

लगता है कि जायस आकर जायसी किसी रूपवती पर दीवाने हुए। सम्भवतः यह रूपवती उन्हें हाट में मिली। कुछ दिनों पागलपन सवार रहा। हो सकता है कि घर में काफ़ी कुहराम मचा, तब समझ में आया कि ऐसी आशिक़ी तो भाई-बन्धु, बाप-पूत में झगड़ा तो कराती ही है, नीचे गिराकर आदमी से नाक भी रगड़वाती है। माशूक़ ने भी कुछ धोखाधड़ी की, शैतान की खाला साबित हुई। जायसी ने न सिर्फ़ कान पकड़ा, बल्कि माशूक़ पर चुड़ैल की तरह आयतें पढ़कर पलीता और धुआँ देकर, शायद कुछ धौल-धप्पा का इस्तेमाल भी करके अपनी जान छुड़ाई।

अपने कवि-व्यक्तित्व का बारम्बार उद्घोष, कवि-सुलभ गर्वोक्तियाँ, विविध मित्रों की मण्डली, पास के लोगों द्वारा जायसी की प्रतिभा का अनभिज्ञान, आहत स्वाभिमान की यत्किंचित् झलक और 'आख़िरी कलाम' में संकेतित विचित्र अनुभव, समकालीन या परवर्ती सूचियों में जायसी का कहीं उल्लेख भी न होना—ये साक्ष्य केवल एक ही अनुमान हमारे लिए सम्भव छोड़ते हैं कि जायसी का व्यक्तित्व एक सामान्य, किन्तु भावप्रवण मनुष्य, दिल मिलाने वाले दोस्त और अत्यन्त प्रतिभाशाली, कल्पनाशील और बौद्धिक कवि का है, सूफ़ी सन्त या बैरागी बाबा का नहीं। मध्ययुग के कवियों ने अपने बारे में बहुत कम बताया है। वे अपनी भावनाओं, विचारों और मूल्यों के आन्तरिक द्वन्द्वों, मन को मथने वाले संशयों और अनुभवों को अत्यधिक गुप्त रखते हैं और कला के क्षेत्र में कठोर निर्वैयक्तिकता बरतते हैं। जायसी ने तो औरों की तुलना में अपने ऊपर से पर्दा अधिक ही उठाया है।

३

जायसी और सूफ़ी सम्प्रदाय

कवि और मनुष्य के रूप में जायसी की तलाश करने का मूल उद्देश्य यह रहा है कि जायसी को सूफ़ी मानने की जो बद्धमूल धारणा हिन्दी शोध और आलोचना में बन गयी है, उसकी छानबीन की जाय। हमने देखा कि जायसी ने खुद अपने बारे में जो संकेत दिये हैं, वे इस धारणा पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

लेकिन यह धारणा हिन्दी-साहित्य में इतनी गहरी प्रविष्ट हो गयी है और इसे इतना विद्वानों और जायसी-विशेषज्ञों का समर्थन प्राप्त है कि तसव्वुफ़ से अलग हटकर जायसी पर विचार करना असम्भव हो गया है। इस ग़लतफ़हमी के कारण न सिर्फ़ जायसी का वास्तविक कवि-व्यक्तित्व, उनकी रचनात्मक प्रतिभा और एक हद तक उनकी अद्वितीय मौलिकता पर पर्दा पड़ गया है, बल्कि वे दुहरे अन्याय और उपेक्षा के शिकार भी हुए हैं। विडम्बना यह है कि सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक जब दिल्ली और मुग़ल-साम्राज्य में तसव्वुफ़ और विभिन्न सूफ़ी सम्प्रदायों का बोलबाला था, तब जायसी की उपेक्षा इस कारण हुई कि वे किसी सूफ़ी या अन्य किसी सम्प्रदाय में प्रतिबद्ध नहीं दिखते थे और बीसवीं शताब्दी में जब तसव्वुफ़ का माहात्म्य नगण्य होने लगा, तब जायसी सूफ़ी घोषित कर दिये गये और धीरे-धीरे केवल भाषा-सम्बन्धी शोधकर्ताओं, जायसी-विशेषज्ञों और प्राचीन सम्प्रदायों में रमने वाले अध्यापकों के लिए पुराने दस्तावेज़ की तरह रह गये। जीवित और श्रेष्ठ कवि के नाते, ऐसे कवि के नाते जो आज इस समय की संवेदनाओं के बीच हमसे कुछ कहने की क्षमता रखता है, जायसी फिर अपरिचित हो गये। यही दुहरा अन्याय है। अतः यह ज़रूरी है कि हम उनके सूफ़ी होने की धारणा पर सतर्क होकर उधेड़-बुन करें ताकि बहुत-सा भ्रम जो अनायास इकट्ठा हो गया है, उसकी समीक्षा हो सके।

तसव्वुफ़ से जायसी को कई तरह से जोड़ा गया है। कहा गया कि वे सूफ़ी हैं। एक क़दम आगे बढ़कर कहा गया कि वे चिश्तिया या महदवी सम्प्रदाय में दीक्षित हैं। इतने से सन्तोष नहीं हुआ, तो यह भी कहा गया कि वे स्वयं सूफ़ी साधू थे। इससे भी आगे वे सिद्ध महात्मा थे और चमत्कार

करते थे। ग़नीमत है कि उनके नाम पर मलिकिया या मुहम्मदिया अखाड़ा अब तक नहीं चला है। सामान्यतः इस वितंडावाद से हमारा सरोकार न होता, लेकिन इन धारणाओं का असर जायसी और उनके पद्मावत के समझने और आस्वादन की प्रक्रिया पर पड़ा है और पड़ता है, इसलिए साहित्य और जायसी-साहित्य के तल्लीन पाठक के लिए इस वितंडावाद से उलझना ज़रूरी है।

तसव्वुफ़, बल्कि सूफ़ी सम्प्रदाय के चौखटे में जायसी को कसने की शुरुआत ग्रियर्सन ने की। ग्रियर्सन ने जायसी को मुस्लिम एसेटिक, अर्थात् मुसलमान संन्यासी कहा है और उनकी सम्प्रदायिक लोकप्रियता का बखान किया है। ग्रियर्सन के कुछ वक्तव्य इस प्रकार हैं :

"......The preservation of the Padmavati is due mainly to the happy accident of Malik Muhammad's reputation. Although profoundly affected by the teachings of Kabir and familiarly acquainted with Hindu lore and with the Hindu Yoga philosophy he was from the first reserved as a saint by his Muhammadan co-religionists... His work is a valuable witness to the actual condition of the vernacular langauge of Northern India in the sixteenth century."

ग्रियर्सन का यह कथन कि जायसी का समादर आरम्भ से ही उनके अपने सहधर्मियों में सिद्ध फ़क़ीर की भाँति हो गया था, केवल जायस में सुनी हुई दन्तकथाओं पर आधारित है। जैसा हम पहले कह आये हैं, तरह-तरह के साधुओं, सन्तों, सिद्धों के उल्लेख हिन्दू-मुसलमान दोनों समुदायों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, लेकिन बहुत खोजने पर जायसी-सम्बन्धी उल्लेख वास्तविक या चमत्कारी, अभी तक किसी तज़किरे या इतिहास में नहीं मिला है। ध्यान में रखने की बात है कि मौलाना दाऊद और उनके 'चन्दायन' का उल्लेख 'मुत्तख़ाबुल-तवारीख़' का लेखक बदायूँनी करता है। उल्लेख ही नहीं, 'चन्दायन' के विषय में यह भी कहता है कि यह पुस्तक इतनी लोकप्रसिद्ध है कि वह बदायूँनी की प्रशंसा की मुहताज नहीं है। दाऊद जायसी से कोई डेढ़ सौ साल पहले और बदायूँनी से प्रायः दो सौ वर्ष पहले हुए। 'चन्दायन' में जगह-जगह काव्य-दीप्ति है। परन्तु जायसी के पद्मावत की तुलना में वह कहीं नहीं ठहरता। फिर भी बदायूँनी ऐसा बोलता है, जैसे मलिक मुहम्मद जायसी का उसने नाम न सुना हो। बदायूँनी ने कालपी वाले शेख़ बुरहान

का भी तजकिरा लिखा है। माना गया है कि ये शेख बुरहान वही हैं जिनको अपनी गुरु-सूची में जायसी ने 'अगुआ भएउ शेख बुरहानूं' कहकर प्रणाम किया है। शेख बुरहान का उल्लेख 'आईने-अकबरी' में उन सन्तों में है जिन्हें आभ्यन्तरिक ज्ञान पर अधिकार प्राप्त था। बदायूँनी ने यह भी बताना जरूरी समझा है कि शेख बुरहान हिन्दी में कविता भी लिखते थे।

इसी प्रकार 'मधुमालती' के लेखक मंझन हैं। वे जायसी से एक पीढ़ी बाद के कवि हैं। उनके गुरु शेख मुहम्मद गौस शतारी सूफ़ी सम्प्रदाय के थे। इस सम्प्रदाय की एक पुस्तक 'गुलजारे-अबरार' में मंझन का विस्तृत उल्लेख है। एक अन्य पुस्तक 'अफ़साना-ए बादशाहान' में भी मंझन का ज़िक्र है। ये सूचनाएँ डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'सूफ़ी काव्य-विमर्श' में दी हैं।

फिर जायसी के बारे में यह दहाड़ती हुई चुप्पी क्यों है? ग्रियर्सन के कथन पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी प्रतिष्ठित मुहर लगाई। उन्होंने अनुमान किया कि जायसी ने जायस के सैयद अशरफ़ से विधिवत् दीक्षा ली और बाद में मानिकपुर के मोहीउद्दीन से भी कुछ ज्ञानलाभ किया। जायसी अपने समय में ही बड़े सिद्ध पहुँचे हुए फ़क़ीर माने जाते थे और उनको सिद्ध योगी मानकर बहुत से लोग उनके शिष्य हुए। प्रोफ़ेसर हसन अस्करी ने इसमें इतना जोड़ा कि जायसी के गुरु 'मोहदी' मुहीउद्दीन नहीं, बल्कि मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी हैं जिन्हें महदवी मत का संस्थापक कहा गया। सैयद अशरफ़ जायस से हटकर कछौछा में स्थापित हो गये। बाद के लोगों ने इन्हीं अनुमानों का पिष्टपेषण किया है। लेकिन जैसा हमने देखा कि ये सारे अनुमान न सिर्फ़ निराधार हैं, बल्कि गहरे उतरकर जब हम जायसी के व्यक्तित्व पर उनके ही साक्ष्य द्वारा विचार करते हैं तो उनका व्यक्तित्व इन अनुमानों से अलग और एक सीमा तक विपरीत भी दिखता है।

इस सारी बहस की आवश्यकता क्यों है? हमारा मूल उद्देश्य तो जायसी के काव्य 'पद्मावत' की छानबीन करना है। इस बहस की आवश्यकता इस लिए है कि इस धारणा के कारण, कि जायसी सूफ़ी सिद्ध थे, पद्मावत की हमारी समझ पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। तर्क कुछ इस तरह बन गया कि चूंकि जायसी सूफ़ी सिद्ध थे, अतः पद्मावत मूलतः सूफ़ी काव्य है। परिणाम यह हुआ कि सब की दृष्टि केवल पद्मावत के केवल उन्हीं थोड़े से स्थलों पर केन्द्रित हो गयी जहाँ सीधे अथवा खींचतान कर भावनात्मक या साम्प्रदायिक तसव्वुफ़ सिद्ध किया जा सकता था। चूंकि पद्मावत में ऐसे स्थल थोड़े हैं, अतः एक व्यावहारिक परिणाम यह भी हुआ कि समूचा ग्रन्थ आलोचकों,

अध्यापकों, साहित्य-प्रेमियों और लेखकों की दृष्टि से ओझल हो गया। वास्तविकता यह नहीं है कि जायसी का पद्मावत लोकप्रिय नहीं हुआ। वह हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में लोकप्रिय हुआ। पद्मावत काव्य की शक्ति ही ऐसी थी कि एक बार सुन या पढ़ लेने पर भूलना कठिन था। फिर भी यदि जायसी का ज़िक्र अगर नहीं मिलता तो इस चुप्पी के कारण उस समय के साम्प्रदायिक और राजनैतिक वातावरण में ही खोजने पड़ेंगे।

ग्रियर्सन की मान्यताओं पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी प्रतिष्ठित मुहर लगाई। उन्होंने भी अनुमान किया कि जायसी ने सैयद अशरफ़ से बाक़ायदा दीक्षा ली। लेकिन आज इससे भी अधिक एक और ख़तरा उत्पन्न हो गया है। जब तक हिन्दी साहित्य में सैद्धान्तिक और मतवादी अध्यात्मवाद का ज़ोर था, तब तक अधूरा ही सही, कुछ आकर्षण जायसी के लिए तसव्वुफ़ के माध्यम से वर्तमान था। अब जब कि तसव्वुफ़ के लिए हिन्दी तो छोड़ दें, उर्दू और फ़ारसी साहित्य में भी कोई आकर्षण नहीं रह गया है (आधुनिक ईरानी और उर्दू शायरी में तो तसव्वुफ़ के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही दिखती है), इस बात की प्रचुर संभावना है कि लोग पद्मावत की ओर इसी क्रम में दृष्टि डालना ही बन्द कर दें कि यह सब सूफ़ीमत का झमेला है और आज के लिए नितान्त अप्रासंगिक है।

इसलिए आवश्यक है कि हम अच्छी तरह उधेड़ बुन करके अपने को पूर्वग्रहों के जाल से मुक्त करें, ताकि जायसी को समूचा, उनके सम्पूर्ण सृजनात्मक कृतित्व के साथ देख सकें और एक समर्थ और श्रेष्ठ कवि का साक्षात्कार कर सकें। हमारी प्रतिबद्धता तसव्वुफ़ के प्रति नहीं है। हमारी प्रतिबद्धता जायसी की कविता के प्रति है।

आख़िर, इस सूफ़ीवादी दृष्टि की जड़ में क्या है? शुक्ल जी के सामने तीन ज़बर्दस्त अड़चनें थीं। एक तो पद्मावत और जायसी की अन्य कृतियों के आरम्भ में गुरु-वन्दना थी, दूसरे उनके और ग्रियर्सन दोनों के पाठ में अन्योक्ति की वह प्रसिद्ध कुंजी थी जिसमें कहा गया था कि 'तन चित्तौड़ है, मन रत्नसेन है, तोता गुरु है' आदि; तीसरे पद्मावत की काव्य-शैली में प्रयुक्त 'प्रेम की पीर', सौन्दर्य-वर्णन तथा घटना-निरूपण में कहीं-कहीं ऐसी युक्तियों का प्रयोग है जिसके कारण आध्यात्मिक अर्थों की झलकियाँ मिलती हैं।

सूफ़ी गुरुओं के बारे में हमने पहले भी कुछ उलझनों की चर्चा की है। आगे भी अन्य सन्दर्भों में इन पर विचार करने का अवसर आयेगा। यहाँ हम एक पहलू पर विचार करेंगे। जायसी ने कुछ मुरशिदों और पीरों की वन्दना

की है। इस वन्दना-मात्र से हम क्या यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जायसी इन गुरुओं के सम्प्रदाय में दीक्षित थे, वे इन गुरुओं के सभी विचारों से सहमत थे और यदि हमें इन गुरुओं के विचार ज्ञात हो जायँ तो क्या हम जायसी के काव्य की व्याख्या इन विचारों के आधार पर कर सकते हैं ?

सच यह है कि ये तीनों निष्कर्ष भ्रामक होंगे। जायसी के साथ एक विशेषता है जो मौलाना दाऊद, कुतबन, मंझन आदि के साथ नहीं है। इन कवियों ने एक गुरु की वन्दना की है। अतः इन कवियों का सम्बन्ध अपने गुरुओं के साथ अधिक घना है—इतना अनुमान हम लगा सकते हैं। आख़िर-कार मध्ययुग एक तरफ़ तलवारबाज़ सामन्तों और आक्रान्ताओं का युग था, दूसरी तरफ़ बाबाओं का। जब आज इस बीसवीं सदी के ढलते-ढलते हर शहर में सौ-पचास बाबा और दो-एक भगवान घूमते दिखते हैं तो मध्ययुग मे तो एक-तिहाई आबादी—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, बाबाओं की रही हो, इसमें क्या आश्चर्य है। सिद्धों की इस प्रचुरता में अगर कोई कवि सिर्फ़ एक को नमस्कार करे तो श्रद्धा के अतिरिक्त कुछ सम्प्रदाय-सम्बन्ध हम कल्पित कर सकते हैं। लेकिन जायसी की सूची में एक नहीं अनेक बाबा हैं। और ये बाबा भी किसी एक गद्दी की सूची में हों, ऐसा नहीं है। दो घराने तो साफ़ ही दिखते हैं। एक में मुहम्मद महदी अलहदाद शेख़ बुरहान आते हैं। दूसरे में सैयद अशरफ़शाह मुबारक वग़ैरह हैं। एक सैयद राजे अलग हैं जो किसी गद्दी में नहीं हैं। फिर सैयद मुहम्मद जौनपुरी महदी होने का दावा करने के बाद वैसे सूफ़ी भी रह गये, जैसे बाबा फ़रीदुद्दीन गंजशकर थे। महदीयत का तेवर ही जुझारू, कट्टर और सत्तापरक होता है। कहने को जायसी ने शेख़ बुरहान को अलहदाद का चेला कहा है। अगर बदायूँनी का साक्ष्य सही है तो अलह-दाद और शेख़ बुरहान की भेंट कुल तीन दिन की थी और वह भी तब, जब शेख़ बुरहान ख़ुद पीरी के मरतबे तक पहुँच चुके थे। अगर मुहम्मद महदी और शेख़ बुरहान की तुलना करें तो एक प्राणायाम की साधना छोड़कर दोनों बिल्कुल दो तरह के साधू दिखते हैं। मुहम्मद महदी लड़ाकू संगठन तैयार करते हैं, लम्बे-लम्बे दौरे करते हैं, सत्ता से टकराते है, एक राज्य से भागकर दूसरे राज्य में शरण लेते हैं, भीड़ में सम्मोहनकारी भाषण देते हैं और हर प्रशासक के लिए दर्द-सर बने जाते हैं। इसके विपरीत, शेख़ बुरहान ने अपने को एक छोटी अँधेरी कोठरी में बन्द कर लिया है, बहुत कम लोगों से मिलते हैं, अल्लाह की आराधना में खाना-पीना भी छोड़ दिया है और बोलना भी लगभग बन्द कर दिया है। दुनिया से वीतराग हो गये हैं।

एक ही अखाड़े के बाबाओं में भी मिजाज में, सामाजिक दृष्टि में, जीवन-पद्धति में, साधना-विधि में, सत्ता से सम्बन्ध में, देशी-विदेशी मुसलमानों के मामले में कुछ गहरे उतरने पर काफ़ी भिन्नता दिखती है। जायसी के पद्मावत में न सिर्फ़ एक विशेष जीवन-दृष्टि है, बल्कि एक स्पष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक समन्वय भी है। गुरुओं की समूची सूची से इसका मीज़ान बैठा पाना कठिन है।

इस समस्या का एक ही हल दिखता है। इस लम्बी सूची से यह निष्कर्ष निकलता है कि जायसी किसी गद्दी या सिलसिले या अखाड़े से बँधे हुए नहीं थे। जितने लोग उन्हें वन्दनीय लगे या जिनकी उन्हें एक दो बातें अच्छी लगीं, उन सब को उन्होंने पीर और मुरशिद माना। सब को विनत भाव से नमस्कार किया, लेकिन अपने स्वाधीन चिन्तन को बरक़रार रखा। वे किसी सम्प्रदाय या सत्ता-दल से जुड़े नहीं।

इस धारणा को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दूँगा। 'आख़िरी कलाम' में क़यामत के आने और अल्लाह के फ़ैसले का विशद वर्णन है। नौ सौ हिजरी के बाद हिन्दुस्तान के मुसलमानों में क़यामत के निकट होने की हवा बहुत तेजी से फैली। ऐसा विश्वास था कि इस्लाम के हज़ार साल होते-होते क़यामत आने के लक्षण प्रकट होने लगेंगे। सृष्टि का अन्त निकट दिखता था। उस समय के धार्मिक विश्वासों में एक प्रचण्ड विश्वास था कि क़यामत के पहले लोगों के धार्मिक आचार-विचार बिगड़ जायेंगे। अनैतिकता और कुफ़्र का बोलबाला होगा। कुरान की लिखत विलुप्त हो जायगी। तब एक बार फिर अल्लाह का हुक्म दुनिया पर लागू करने के लिए महदी का उदय होगा। महदी की धारणा मूलतः पुनरुत्थानवादी धारणा है। महदी का काम न सिर्फ़ शरीयत की रक्षा करना, बल्कि सारी दुनिया पर अपनी सत्ता स्थापित करना था। इस सामान्य विश्वास के चलते जगह-जगह महदीयत का दावा करने वाले उठ खड़े हुए। जायसी का युग इस दृष्टि से तेज़ वैचारिक उथल-पुथल, मूलगत अस्थिरता और ऊहापोह का युग है। जौनपुर के सैयद मुहम्मद भी ऐसे ही महदी थे जो अन्य महदियों से कुछ ज्यादा लोकप्रिय हुए। इन महदियों की 'अखरावट' और 'आख़िरी क्लाम' में सूची इतनी लम्बी नहीं है। प्रति सुलतानों और बादशाहों का सशंकित होना स्वाभाविक था। सही सूफ़ियों में हाफ़िज़ की एक उक्ति प्रसिद्ध हुआ करती थी— उमूरे मुमलिकते ख्वेश खुसरुआँदानन्द', अर्थात् राज कैसे चलाना चाहिए, यह बादशाह ही ठीक जानते हैं। आशय यह था कि दरवेशों को इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। लेकिन महदी तो अपने अस्तित्व से ही समाज, शासन, शरीयत सब का ठीकेदार होकर खड़ा होता था। इसलिए टकराहट भी होती थी। बदायूँनी ने यह भी लिखा है कि

जीवन के आख़िरी क्षणों में सैयद मुहम्मद ने अपनी महदीयत के दावे को तिलांजलि दे दी थी ।

जायसी शेख़ बुरहान के जरिये सैयद मुहम्मद के महदवी मत के मानने वाले कहे जाते हैं । उन्होंने सैयद मुहम्मद को प्रणाम भी अर्पित किया है । 'आख़िरी कलाम' शायद जायसी ने तत्कालीन हवा के बहाव में, कि कयामत का दिन क़रीब है, लिखा होगा । लेकिन आश्चर्य की बात है कि क़यामत की तसवीर तो बिल्कुल कुरान और शरीयत के अनुसार है, परन्तु महदी का ज़िक्र कहीं नहीं है । हवा में से क़यामत की चर्चा तो जायसी ने ले ली, लेकिन महदी या महदियों के शोर को उन्होंने अनसुना कर दिया । 'आखिरी क्लाम' की क़यामत वह भावनात्मक और वैचारिक धुरी है जिस पर हमारे पुण्य, ईमान और बेईमानियाँ चक्कर काटते हैं—कल या परसों घटित होने वाला इतिहास नहीं ।

संक्षेप में, गुरुओं की वन्दना से यह नतीजा निकालना कि जायसी इस या उस सम्प्रदाय, इस या उस मतवाद से बँधे हुए थे, समीचीन नहीं होगा और जायसी की अपनी दृष्टि को समझने में हमारी मदद नहीं करेगा । जायसी में अपने स्वाधीन चिंतन और प्रखर बौद्धिक चेतना के लक्षण मिलते हैं जो गद्दियों और सिलसिलों की मठी या सरकारी नीतियों से अलग हैं । इस अर्थ में जायसी यदि सूफ़ी हैं तो कुजात सूफ़ी हैं । अब हम इसका भी अनुमान लगा सकते हैं कि जायसी का उल्लेख क्यों किसी मठ या इतिहास में नहीं हुआ । आज भी सम्प्रदाय बनाने वाली हिन्दी आलोचना में यह प्रवृत्ति दिखती है कि अपने सम्प्रदाय के बाहर जो लेखक पड़ते हैं, उनकी उपेक्षा की जाती है । जायसी के युग में तो सम्प्रदायों, गद्दियों, सरकारी अख़बारनवीसों का बोलबाला था । इस परिधि के बाहर जीना मुश्किल था । तब जायसी जैसे फुटैल कवि को कौन पूछता ?

शुक्ल जी के सामने दूसरी अड़चन 'तन चितउर मन राजा कीन्हाँ' वाली कुंजी थी । डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी पाठशोध में इस समूचे कड़वक को प्रक्षिप्त बतलाया । अब सभी लोगों ने मान लिया है कि यह अंश प्रक्षिप्त है । इसलिए पद्मावत की समूची कथा को ख़ामख़ाह एक आध्यात्मिक रूपक की तरह व्याख्यायित किया ही जाय, ऐसी कोई विवशता नहीं रह गयी । लेकिन जब तक यह अंश चलन में रहा, लोगों में आध्यात्मिक व्याख्या की प्रवृत्ति बद्धमूल हो गयी । रूपक-निर्वाह पूरी कथा पर घटित नहीं होता, इतना तो सामान्य अवलोकन से भी दिखता है । अब दो ही रास्ते हैं । या तो जायसी को सतर्क कवि मानकर पूरी कथा को इस तरह पढ़ा जाय कि समूचे कृतित्व की एकता खण्डित न हो और यत्र-तत्र बिखरे हुए तसव्वुफ़ की झलकियों को अंशी न मानकर अंश ही माना जाय, या यह समझा जाय कि जायसी का

मूल कथ्य सूफ़ीवाद है, लेकिन कविता लिखते समय वे बह गये और जो करने चले थे, न कर सके। रूपक उनसे निभ न सका। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने, जो सूफ़ी साहित्य के प्रतिष्ठित आलोचक हैं, १९५१ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'सूफ़ी काव्यसंग्रह' में दूसरे तर्क को अन्तिम परिणति तक पहुँचाते हुए कहा : "जायसी की यह रचना (पद्मावत) एक कथा-रूपक है जिसका अप्रस्तुत बातों के साथ अक्षरशः मेल खाना सम्भव नहीं है। जायसी ऐसा करने में सफल भी नहीं कहे जा सकते। किन्तु इस प्रकार की त्रुटि उस मूल आदर्श का ही परिणाम है जिसके अनुसार ये सूफ़ी कवि इस ओर अग्रसर होते हैं।"

पहले उन्होंने पद्मावत को कथा-रूपक कहा। फिर कहा कि कथा-रूपक में कृति बैठती नहीं। नतीजा निकला कि कृतिकार असफल है। इस तर्क-पद्धति को हम एक प्रकार का निष्पत्तिवाद कह सकते हैं। यह भ्रामक निष्पत्तिवाद हिन्दी आलोचना में अन्यत्र भी दिखता है। उदाहरण के लिए, हम कहें कि नयी कविता में अस्तित्ववाद है। अब यदि किसी कवि में अस्तित्ववाद से अलग उन्मेष दिखाई पड़े, तो दूसरा तर्क दें कि कवि में अन्तर्विरोध है और उसकी कविता असफल है।

जायसी के विषय में सूफ़ी निष्पत्तिवाद की आदत मुश्किल से छूटती दिखती है। १९५१ ई० में ही डॉ० माताप्रसाद गुप्त का वैज्ञानिक संस्करण निकला। इसमें उन्होंने कथा-रूपक की कुंजी वाले कड़वक को प्रक्षिप्त ठहराया। अपनी भूमिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा—"इस छन्द को प्रामाणिक मान लेने के कारण जायसी के रूपक-निर्वाह के विषय में शुक्ल जी ने और उनके पीछे के समस्त आलोचकों ने कितना बड़ा वितंडावाद खड़ा किया है।"

वस्तुतः पद्मावत के प्रति आज के लेखकों और बुद्धिवादी पाठकों के पराङ्मुख होने का एक बड़ा कारण यह अफ़वाह है कि पद्मावत मूलतः कथा-रूपक है, अन्योक्ति है, अलेगरी है। काव्य-विधा के रूप में अलेगरी मध्ययुगीन और पुरान-पंथी चीज़ हो गयी है। अत, पद्मावत का आकर्षण नहीं रह गया। यह बहुत जरूरी है कि ज़ोर देकर इस अफ़वाह को नष्ट कर दिया जाय।

कथा-रूपक या अन्योक्ति के प्रश्न को अधिक विवेचित करना आवश्यक नहीं है, किन्तु इस क्षेपक के सन्दर्भ में कृति और उसके उपयोग या दुरुपयोग के एक अन्य पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

प्रसिद्ध कृतियों में लोग क्षेपक क्यों डालते हैं? यहाँ केवल पाठान्तर का सवाल नहीं है जो अज्ञान या लिपि की दुरूहता के कारण अधिकतर उत्पन्न होता है। क्षेपक तो कृति में जान-बूझकर किया हुआ हस्तक्षेप है। आज के छापेखाने के युग में क्षेपकों का डालना उतना आसान नहीं रह गया।

४

कवि मुहम्मद गुनी

सबसे पहले जिस बात को अच्छी तरह मन में बिठाना जरूरी है, वह यह है कि जायसी हिन्दी के पहले विधिवत् वरिष्ठ कवि हैं। कबीरदास श्रेष्ठ हैं; लेकिन विधिवत् कवि भी हैं, ऐसा उनका दावा नहीं है। मूलतः वे सन्त हैं। कवि होना कबीरदास के लिए लक्ष्य नहीं था। शायद कवियों के बारे में उनकी धारणा भी बहुत अच्छी नहीं थी। जायसी के डेढ़ सौ साल पहले 'चन्दायन' के रचयिता मौलाना दाऊद हुए। जायसी के आसपास ही कुतबन भी हुए। इन दोनों में कविता की दीप्ति दिखती है। लेकिन ये दोनों वरिष्ठ कवि नहीं हैं। अंशतः अच्छे कवि हैं। लेकिन उनकी कृतियाँ पद्मावत के सामने नहीं ठहरतीं।

जायसी केवल कवि नहीं हैं, वे आत्म-सजग कवि हैं। अपने कवि होने का, गुणी होने का उन्हें पूरा भरोसा, बल्कि गर्व है। अपने कवि और गुणी होने का ज़िक्र पद्मावत में जायसी ने आरम्भ, मध्य और अन्त में बार-बार प्रत्यक्षतः या परोक्षतः किया है। इनमें से एक को छोड़कर सभी उक्तियाँ कविजनोचित गर्वोक्तियाँ हैं, उन सबको उद्धृत करना यहाँ आवश्यक नहीं है। कुछ उदाहरण देखें :

१. मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
   जेइँ मुँख देखा तेइँ हँसा सुना तो आए आँसु ।।

२. एक नैन कबि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कबि सुनी ।।

३. एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
   सब रुपवंत पाँव गहि मुँख जोवहिं कइ चाउ ।।

४. आदि अन्त जस कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै ।।
   कबि बिआस रस कँवला पूरी। दूरिहि निअर निअर भा दूरी ।।
   निअरहि दूरि फूल सँग काँटा। दूरि जो निअरैं जस गुर चाँटा ।।

   भँवर आइ बनखंड हुति लेहिं कवँल कै बास।
   दादुर बास न पावहिं भलेहिं जे आछहिं पास ।।

इन उद्धरणों में गर्वोक्तियाँ प्रत्यक्ष हैं। परन्तु जायसी के कहने की शैली में एक मिठास है। यह मिठास जायसी का सामान्य गुण है। यहाँ भी है। इन उक्तियों में अकड़ नहीं है। ऐसा लगता है कि अधिकारी और योग्य व्यक्ति केवल अपनी विशिष्टता का तटस्थ उल्लेख कर रहा है। ये पंक्तियाँ जायसी ने अपनी पहचान स्पष्ट करने के लिए लिखी हैं। इनमें आत्म-विश्वास है, घमण्ड नहीं।

चौथे उद्धरण के एक अन्य आशय की ओर संकेत करना रोचक होगा। जायसी का कहना है कि दूर-दूर से लोग कीर्ति सुनकर उनकी कविता की सुगन्ध लेने आते हैं, लेकिन पास के मेढक उनकी प्रतिभा से बेख़बर हैं। ये पास के मेढक कौन हैं ? अगर जायसी ने पद्मावत जायस में लिखी तो ये मेढक जायस वाले हैं। लगता है कि जायस वालों ने अपने इस महान् कवि को न सिर्फ़ पहचाना नहीं, बल्कि इतना उबा भी दिया कि अपनी अप्रतिम शैली में जायसी के लिए इस बात को लिख देना ज़रूरी हो गया ताकि सनद रहे और वक़्त-ज़रूरत काम आवे।

अन्य स्थलों पर भी जायसी ने अपने सन्दर्भ में कवि या कवि मुहम्मद का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए, 'चार मीत कवि मुहमद पाए' या 'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी' आदि। ये सभी प्रयोग जायसी के कवि-व्यक्तित्व का अतिरिक्त आग्रह प्रकट करते हैं।

एक और चौपाई है जिसे अक्सर उद्धृत किया जाता है :

हौं सब कबिन केर पछिलगा। कछु कहि चला तबल देइ डगा।।

यह एक मात्र चौपाई है जहाँ अपने कवि-व्यक्तित्व के बारे में 'पछिलगा' कहकर विनयोक्ति का प्रादुर्भाव किया गया है। लेकिन डंके के साथ क़दम बढ़ाकर कुछ कह चलने का आशय, गर्वोक्ति की झलक फिर भी दे जाता है। इस चौपाई का उपयोग अक्सर इस तर्क की पुष्टि के लिए किया जाता है कि जायसी सन्त-स्वभाव वाले विनीत व्यक्ति थे। विनीत वे रहे होंगे—जिस तरह हर बड़ा कवि अपनी कविता को लेकर एक ही साथ विनीत और आत्म-विश्वासी, दोनों होता है। परन्तु इस चौपाई का ठीक अर्थ इस कवि-स्वभाव के भीतर ही है।

कवि-व्यक्तित्व के परोक्ष आग्रह के उदाहरण के रूप में जायसी का अग्र-लिखित दोहा विचारणीय है जो शाहेवक़्त शेरशाह की प्रशंसा के प्रकरण में लिखा गया :

पातिसाहि तुम जग के जग तुम्हार मुहताज।
दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहिं जुग राज ।।

बादशाह के लिए इस दोहे में जो आशीर्वचन की उक्ति है, उसकी ओर विद्वानों का ध्यान गया है। इस आशीर्वचन से जायसी के सिद्ध फ़कीर होने का अनुमान भी लगाया गया। मान लिया गया कि मात्र कवि का यह साहस कैसे हो सकता है कि बादशाह के लिए 'असीस देने' की मुद्रा में हाथ उठाये। लेकिन यह अनुमान ग़लत है। रतनसेन सूली खण्ड में और दसौंधी, जिसकी स्थिति चारण कवि की है, राजा गंधर्वसेन को बाएँ हाथ से 'बरम्हाऊ' अर्थात् आशीर्वाद देता है। उसी खण्ड में हीरामन तोता भी गंधर्वसेन को हर प्रकार से स्वामी और अपने को अकिंचन कहने के बाद राजा को आशीर्वाद ही देता है :

नैन बैन औ सरवन बुद्धी सबै तोर परसाद।
सेवा मोर इहै निति बोलौं आसिरबाद ।।

अतः शेरशाह को 'असीस' देने की मुद्रा भी कवि की ही मुद्रा है।

पद्मावत में कुछ स्थलों पर जायसी ने अपनी कविता की प्रकृति, या अपने अनुसार कविता-मात्र की प्रकृति का भी संकेत दिया है। वह दोहा, जिसमें जायसी ने कहा है कि लोगों को उनकी कविता सुनकर आँसू आये, पहले उद्धृत किया जा चुका है। इसका सीधा आशय यह है कि कविता की प्रकृति जायसी के लिए भावना के सम्प्रेषण की है। इसी तरह अन्यत्र उन्होंने कहा है कि कवि रस का भरपूर कटोरा है। कविता के अभिप्रेत प्रभाव की उपमा उन्होंने कमल की सुगन्ध से दी है जिसे दूर-दूर से भँवरे आकर प्राप्त करते हैं। ये सभी उक्तियाँ कविता, विशेषतः पद्मावत, के केन्द्र में अनुभूति को स्थापित करती हैं, किसी मतवाद या दार्शनिक सिद्धान्त को नहीं।

पद्मावत के उपसंहार खण्ड में जायसी ने अपनी काव्य-कृति और अपने कवि-व्यक्तित्व को फिर परिभाषित किया है। अन्त के दो कड़वकों में से पहला इस प्रकार है :

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा। सुना सो पेम पीर गा पावा ।।
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई ।।
औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा ।।
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा। कहाँ सुआ असि बुधि उपराजा ।।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू ।।

कहँ सुरूप पदुमावति रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी ।।
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू । फूल मरै पै मरै न बासू ।।

केइँ न जगत जस बेचा केइँ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ।।

उपसंहार के इस अंश में प्रेम की पीर, रक्त की लेई और नैन-जल से भीगी हुई गाढ़ी प्रीति की चर्चा की गयी है । इन तीनों उक्तियों में निहित भाव को पाठक, कृति के चरित्रों और कृतिकार के मानस में एक-साथ अवस्थित किया गया है । अर्थ एक चंचल आवर्तन की तरह है । इस आवर्त में चक्कर काटकर हम इस सब के स्रोत कवि के व्यक्तित्व की ओर ही लौटते हैं । कवि ने मन में यह समझकर ऐसा काव्य रचा कि संभवतः संसार में यह उनकी पहचान शेष रह जाय । इस काव्यगत अस्मिता को निर्मित करने के बाद पाठक से उनकी अपेक्षा है कि जो यह कहानी पढ़े, जायसी को दो बोल याद कर ले ।

इस 'सँवरै दुइ बोल' में न जाने कितने अर्थों की झनकार है । एक छोटे से टुकड़े में प्रभूत अर्थवत्ता भर देने में जायसी की क्षमता अद्वितीय है । परन्तु यह समस्त अर्थवृत्त जायसी की अस्मिता की चारों ओर ही चक्कर काटता है जो उपसंहार का केन्द्र-विन्दु है । लगता है, जैसे सारी कथा, सारी घटनाएँ, सारे चरित्र—सब के सब अपनी भूमिका निभाकर विलीन हो गये और हमारे सामने सिर्फ़ जायसी का उघरा हुआ मर्म, बिना किसी अन्तर्पट के, उपस्थित हो गया है । हमारा काम है कि इस मर्म का निर्बाध और सम्पूर्ण साक्षात्कार करें । यही 'दो बोल सँवरना' है । आख़िरकार पद्मावत की कथा ईश्वर से आरम्भ होती है और मलिक मुहम्मद जायसी पर ख़त्म होती है ।

उपसंहार का अन्तिम कड़वक इस प्रकार है :

मुहमद बिरिधि बएस भई । जोबन हुत सो अवस्था गई ।।
बल जो गएउ कै खीन सरीरू । दिस्टि गई नैनन्ह दै नीरू ।।
दसन गए दै तुचा कपोला । बैन गए दै अनुरुचि बोला ।।
बुद्धि गई हिरदै बौराई । गरब गएउ तरहुँड़ सिर नाई ।।
सरवन गए ऊँच दै सुना । गारौ गएउ सीस भा धुना ।।
भँवर गएउ केसन्ह दै भुआ । जोबन गएउ जियत जनु मुआ ।।
तब लगि जीवन जोबन साथाँ । पुनि सो मींचु पराए हाथाँ ।।

बिरिध जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस ।
बूढ़े आढ़े होहु तुम केइँ यह दीन्ह असीस ।।

एक तरफ़ वह विशाल छविमय कल्पना-संसार है जिसकी कथा जायसी ने सुनायी और दूसरी तरफ़ इसको जोड़ने वाली वह सृजनात्मक अनुभूति है जिसे जायसी ने अपने रक्त की लेई कहा। इस रक्त की लेई में सचमुच कितना ख़ून देना पड़ा है, इसका मूर्तिमान प्रमाण उपस्थित करने के लिए कहानी की अन्तिम किरण उस सर हिलाते निचुड़े हुए वृद्ध पर डाली गयी है जिसका नाम भी मलिक मुहम्मद जायसी है।

इस मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए बूढ़े के भीतर से फूल की ख़ुशबू की तरह एक अलक्षित जायसी कहानी में घुल-मिलकर एकाकार हो गया है। इस द्विविध अस्तित्व-बोध के समकक्ष निराला की कुछ पंक्तियाँ रखने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि जायसी यहाँ केवल अपने बूढ़े हो जाने की सूचना नहीं दे रहे हैं, इस अनुभूति का सृजनात्मक प्रयोग कर रहे हैं।

राम की शक्तिपूजा, जुही की कली, बादल राग, सरोज-स्मृति, जयसिंह के नाम शिवाजी का पत्र, वन बेला और अपने जीवन के महाकाव्य की न जाने किन मंज़िलों से गुज़रने के बाद निराला भी लगभग उपसंहार के स्वर में कहते हैं :

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है

आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है—अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—

जीवन रह गया है।

दिये हैं मैंने जगत को फूल फल
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल
हार जीवन का वही—

जो ढह गया है।

अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा
श्याम तृण पर बैठने को तिरुपमा
वह रही है हृदय पर केवल अमा
मैं अलक्षित हूँ यही—

कवि कह गया है।

निराला की अनुभूति में भी जो पल्लवित पल हैं, वे तो अनश्वर थे; जो जीवन का ठाट शेष बचा, वह ढह गया है ।

जायसी ने अपने बारे में कुछ अन्य जानकारियाँ भी दी हैं, वे ज्यादा नहीं हैं। सबसे चर्चित तो पद्मावत में दी गयी दस बाबाओं की सूची है । इस सूची के कुछ नाम 'आख़िरी कलाम' और 'अखरावट' में भी आते हैं । ये बाबा सूफ़ी कहलाते हैं। भाँति-भाँति के सूफ़ी । इन बाबाओं की जायसी ने बन्दना की है और इनको गुरु, मुरशिद, पीर, कर्णधार, दस्तगीर, गाढ़े के साथी, पंथ दिखलाने वाले आदि-आदि उपाधियों से आभूषित किया है और स्वयं को इनका चेला, बन्दा, सेवक आदि कहा है ।

विद्वानों ने इस बाबा-सूची को काफ़ी मथा है। कुछ तो इस कारण कि विद्वानों और विशेषज्ञों का यह धर्म ही है कि कहीं कोई संकेत मिले तो उसे मथ डालें । लेकिन, कुछ इस कारण भी कि संभवत: इस खोज-बीन से जायसी को समझने में आसानी हो । जायसी को सूफ़ी फ़कीर और पद्मावत को सूफ़ी ग्रन्थ की भाँति स्थापित करने में इस सूची में अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । इस सन्दर्भ में हम कुछ आधारभूत प्रश्न उठाना चाहते हैं ।

जायसी की कविता को समझने और उसका वास्तविक मिज़ाज पहचानने में इस सूची को मथना तीन स्थितियों में ही उपयोगी हो सकता है । पहले, इन बाबाओं के पीछे पड़कर हम मनुष्य, समाज, इस्लाम, कुफ़्र, सत्ता, सल्तनत, उदारता, कट्टरता, सहिष्णुता, असहिष्णुता आदि के सम्बन्ध में इनके विचारों या दृष्टिकोणों के बारे में कुछ सामान्य नतीजे निकाल सकें । दूसरे, हमें इसके भी प्रमाण मिलें कि जायसी ख़ुद इन मान्यताओं या विचारों से बहुत गहरे प्रतिबद्ध थे। तीसरे, इस प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति हम पद्मावत में देख सकें। ये तीनों शर्तें पूरी हों, तब हमारे लिए यह उचित होगा कि जायसी की कविता की जो आत्मा है, उसका श्रेय हम जायसी की मौलिक प्रतिभा को न देकर इन बाबाओं या इनके जैसे सूफ़ी कहे जानेवाले हज़ारों बाबाओं को दें ।

सच तो यह है कि इन तीनों में से एक भी शर्त पूरी नहीं हुई । और जैसे-जैसे अनुसन्धान फैलता जाता है और बाबाओं के बारे में जानकारी बढ़ती जाती है, जायसी का मिज़ाज हाथ से छूटता जाता है । बाबाओं और जायसी के बीच खाई दुर्लंघ्य होती जाती है ।

पहले तो यही कि सूची में श्रद्धापूर्वक वर्णित इन बाबाओं से विचारधारा-सम्बन्धी कोई सामान्य परिणाम निकालना कठिन दिखता है । सूची दो अलग-अलग अखाड़ों में विभाजित है : एक अशरफ़िया और दूसरी महदवी । इनमें

भी सैयद राजे फुट्टैल दिखते हैं। दो अखाड़ों में अलगाव तो है ही, लेकिन एक अखाड़े के बाबाओं में भी पर्याप्त भिन्नताएँ हैं। विस्तार में न जाकर हम एक उदाहरण लें। आचार-विचार, आदर्श-व्यवहार, सामाजिक रिश्तों, ऐतिहासिक भूमिका, विश्वास, साधना-पद्धतियों, पीरी-मुरीदी के ढंग—इन सब के ख़याल से कालपी के शेख़ बुरहान और जौनपुर के सैयद मुहम्मद में जमीन-आसमान का फ़र्क है। कहने को दोनों एक ही अखाड़े के हैं। बल्कि सैयद मुहम्मद तो महदी हैं और शेख़ बुरहान अलहदाद के माध्यम से उनके चेला-दर-चेला हुए। सैयद मुहम्मद महदीयत के मिशन में हज़ारों के मज्मे को सम्बोधित करते हैं, अपनी वक्तृता के सम्मोहन से लोगों को उन्मत्त कर देते हैं, बढ़ते हुए कुफ़्र के खिलाफ़ जुझारू संगठन खड़ा करते हैं, कयामत आने के पहले सारे आलम में इस्लाम का डंका बजा देने को उतावले हैं, अपनी चुनौतियों से बादशाहों के लिए सरदर्द हो जाते हैं और मरते-मरते पछता कर कहते हैं—'भाई, मैंने महदीयत का अपना दावा वापस लिया।' इसके विपरीत, शेख़ बुरहान हैं जिन्होंने अँधेरी कोठरी में अपने को बन्द कर लिया है, खाने के नाम पर थोड़ा दूध और मीठा या अक्सर पानी ही लेते हैं, भाषण-बाजी तो दूर, आमने-सामने भी बहुत कम बोलते हैं, अरबी-फ़ारसी से उन्हें कोई सरोकार नहीं और शायद इसकी फ़िक्र भी उन्हें नहीं है कि दिल्ली में कौन बादशाह हुआ और उसने कौन नीतियाँ चलाईं। सैयद मोहम्मद वाग्वीर हैं, शेख़ बुरहान चुप्पे। इन दोनों को नमस्कार करते हुए भी जायसी दोनों से अलग दिखते हैं। शायद शेख़ बुरहान से कुछ अधिक निकटता हो, लेकिन जायसी का वास्तविक मिज़ाज दोनों से अलग है।

क्या जायसी इन दसों बाबाओं या किसी एक से भी सचमुच प्रतिबद्ध हैं? कहा गया है कि जायसी ने इनमें से किसी एक से सचमुच दीक्षा लेकर ख़ुद बाबागिरी की ओर क़दम बढ़ाया। बहुत बाल की खाल निकाल कर उस दीक्षा-गुरु की खोज में लोग लगे। कोई सहमति विद्वानों में इस गुरुनाम पर न हुई, न होगी। किसी ने शेख़ बुरहान को दीक्षागुरु बताया, किसी ने शेख़ मुबारक बोदले को, किसी ने शेख़ कमाल को। जायसी ने ख़ुद किसी एक को पकड़ा हो और उसकी गद्दी या सम्प्रदाय के साथ नत्थी हो गये हों, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

आज इस बीसवीं सदी में भी हिन्दुस्तान में बाबाओं की इफ़रात है और ऐसे अफ़सर, नेता, व्यापारी, आचार्य और लेखक हैं जो आशीर्वाद के लिए इस या उस बाबा की वन्दना करते रहते हैं। किसी को तरक़्क़ी चाहिए, किसी को मंत्रीपद, किसी को प्रधानमंत्री पद, किसी को मुक़द्दमे में जीत, किसी को रोग

से छुटकारा और किसी को सन्तान या कबीले का हित चाहिए। लेकिन बाबा असली हों या दिखावटी, इन श्रद्धालु चेलाओं को इन बाबाओं से पूरी तरह प्रतिबद्ध मानना ग़लती होगी। जायसी के युग में तो बाबाओं की संख्या कहीं अधिक थी। हर नुक्कड़ पर, या हर पेड़ के तले चार-छह बाबा मिलते थे। लगता है कि यह सारा नमस्कार-प्रदर्शन, मुरीदा, बन्दगी और ख़िदमतगारी का आग्रह जायसी के लिए सामान्य श्रद्धा से अधिक कुछ भी नहीं है। हो सकता है कि इन बाबाओं के यदा-कदा सत्संग ने जायसी को ख़ुद सोचने और अपने निजी विचारों को व्यवस्थित करने में मदद पहुँचाई हो। अपनी घोर बेचैनियों के बीच उन्हें आत्मिक शक्ति भी मिली हो, लेकिन वे प्रतिबद्ध इनमें से किसी के नहीं थे। सच तो यह है कि दिमाग़ी और भावनात्मक, दोनों क्षेत्रों में जायसी अपने समय के इन बाबाओं से कहीं बड़े आदमी थे—और उनकी आत्मा के संपूर्ण रस को तबलीग़ी सैयद मोहम्मद, मौनी शेख़ बुरहान या अफ़ीम का सेवन करने वाले मुबारक बोदले के नपने से नाप देना जायसी को छोटा करना है। जायसी किसी एक बाबा या सूफ़ी सम्प्रदाय से बँधे होते तो उनके लिए इस बात को साफ़-साफ़ कहने में क्या हिचक थी? कुतबन ने सिर्फ़ एक गुरु का नाम लिया था, मंझन ने शत्तारी सम्प्रदाय के बाबा ग़ौस मुहम्मद का नाम लिया, 'चन्दायन' के लेखक मौलाना दाऊद ने अपने गुरु जैनुद्दीन का स्तवन किया—जायसी के लिए ही यह क्यों ज़रूरी था कि वे तरह-तरह के नाम लेते और इस विचार के लिए अवसर देते कि जो व्यक्ति हर देवता को जल चढ़ाता है, उसका कोई इष्टदेव नहीं होता। मेरा विनम्र निवेदन है कि जायसी के लिए सभी बाबा वन्दनीय हैं, लेकिन दीक्षित वे किसी से नहीं हैं।

शायद अपनी इस अलीक मन:स्थिति का दण्ड भी जायसी को भुगतना पड़ा। अकबर-कालीन बदायूँनी बड़े आदर के साथ दाऊद और उनकी हिन्दी कविता 'चन्दायन' का उल्लेख करता है और कहता है कि यह ग्रन्थ इतना अधिक लोकप्रिय है कि इसकी प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है। शत्तारियों के तज़किरों में मंझन और उनकी 'मधुमालती' का ब्योरा है। केशवदास 'छिताई-चरित' का उल्लेख करते हैं। सिर्फ़ एक जायसी का नाम कोई नहीं लेता। फ़रिश्ता पद्मावत की कथा को वास्तविक इतिहास मानकर अपनी 'तवारीख़' में लिख डालता है, मगर जायसी का नाम नहीं लेता। राजस्थान में तमाम ख्यातें और बातें गोरा बादल और पद्मिनी पर चारणों ने गा डालीं, जायसी का नाम नहीं लिया। जहाँगीर के काल में लिखी गयी रचना 'रूपवती' में पुरानी कहानियों में मृगावती, लोरक, चंदा और मैना का ज़िक्र है, जायसी की रचना पद्मावत का कहीं नाम नहीं है। पूरा रीतिकाल जायसी के बारे

में चुप है। यह चुप्पी उन्नीसवीं सदी तक चली आती है। यहाँ तक कि मिश्र-बन्धुओं ने भी हिन्दी के नवरत्नों में जायसी का नाम नहीं लिया। जायसी के बारे में यह दहाड़ती हुई चुप्पी क्यों है ? जायसी ने लिखा चाहे मध्यकाल में हो, लेकिन वस्तुतः बीसवीं शताब्दी के कवि हैं जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें उठाकर तुलसीदास की बग़ल में खड़ा कर दिया।

जिस अशरफ़िया या महदवी सिलसिले में जायसी दीक्षित कहे जाते हैं, उन सम्प्रदायों की पुरानी किताबों में मलिक मुहम्मद नाम के किसी चमत्कारी या अचमत्कारी बाबा का ज़िक्र नहीं मिलता। अगर सचमुच जायसी के साथ आशीर्वाद से सन्तान देने या परकाया-प्रवेश की कीर्ति उनके रहते जुड़ गयी होतीं तो जायसी मलिक मुहम्मद भी न रह जाते। उस समय के रिवाज के अनुसार शेख़ मुहम्मद या उससे भी आगे ख्वाजा मुहम्मद हो गये होते। बाबा-गिरी की अफ़वाहें जायसी के साथ बहुत बाद में जोड़ी गयीं।

यह भी अधिक संभव लगता है कि जायसी किसी दरबार से या वास्त-विक आश्रयदाता से भी नहीं जुड़े। शाहे-वक़्त के नाम पर उन्होंने संक्षेप में हुमायूँ और बाबर, और कुछ अधिक विस्तार से शेरशाह, की स्तुति की है। यह स्तवन रवायती ही होता था, ताकि सरकारी अमला की कोप-दृष्टि कवि पर न पड़े। यह न भूलना चाहिए कि विचार-अभिव्यक्ति की दृष्टि से मध्ययुग काफ़ी सख़्त सेंसर का युग था और दिल्ली दरबार तक पहुँचने की औक़ात हिन्दी के कवि की उस समय तक नहीं हुई थी। दाऊद, कुतबन, मंझन आदि ने शाहे वक़्त के अतिरिक्त कुछ छोटे स्तर के अमीर-उमरा का भी स्तवन अपने वास्तविक आश्रयदाता के रूप किया है जिनके दरबार में उनकी पहुँच की गुंजाइश थी। एक जायसी ही हैं जिन्हें दिल्ली के शाहंशाह के नीचे कोई भी नाम लेने लायक नहीं दिखता। पहले हमने जो जायसी के गर्वीले स्वभाव की झलक देखी है, उसके यह अनुरूप ही है।

तीसरी शर्त, कि गुरुओं से मिले हुए कुछ सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिफल हम पद्मावत में देख सकें, इस विवेचन के बाद अप्रासंगिक दिखती है। विद्वानों ने लगभग एक स्वर से पद्मवात को सूफ़ी ग्रन्थ कहा है। उन्होंने सूफ़ी सम्प्रदाय की व्यापक मान्यताओं, जैसे वहदतुल वजूद, इश्क़े-हक़ीक़ी, मतूफ़त की मंज़िलें, फ़िना फ़िलल्लाह को पद्मावत का असली, बल्कि एकमात्र कथ्य मान लिया है। यह वस्तुतः पद्मावत की व्याख्या का प्रश्न है और इस पर हम विस्तार से आगे विवेचन करेंगे। सम्प्रति इतना कहना जरूरी है कि इनमें भी बहुत से विचार इस्लाम के सुन्नत वाले रूप में भी मिल जाते हैं। उनके लिए

सूफ़ीमत के अलग सहारे की जरूरत नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए, 'आख़िरी कलाम', जो जायसी की अन्य कृतियों के मुक़ाबले में अधिक व्यवस्थित और सुस्पष्ट इस्लामी पुस्तक है, में क़यामत की पूरी व्याख्या सुन्नत के अनुसार ही है। सूफ़ीवाद का वहाँ काफ़ी अवसर है, लेकिन जायसी ने कहीं तसव्वुफ़ को आने भी नहीं दिया है। एक भी सूफ़ी वहाँ ख़ुदा से सीधा सम्पर्क करता नहीं दिखाया गया है। सारे मुसलमान—उम्मत के नाते ही—मुहम्मद साहब के पीछे खड़े हैं और ईश्वर का साक्षात्कार भी केवल मुहम्मद साहब को होता है। आश्चर्य तो इस पर भी होना चाहिए कि महदवी मत से प्रतिबद्ध कहे जाने वाले जायसी के इस ग्रन्थ में क़यामत के पहले अलजहाल का ज़िक्र तो है, लेकिन कोई महदी शुरू से आख़िर तक अवतरित नहीं होता। वस्तुतः नवीं सदी हिजरी के बाद जो हिन्दुस्तान में तथा अन्यत्र भी महदियों की भीड़ उभरती दिखती है, उसका कारण यह प्रचलित विश्वास था कि क़यामत का दिन क़रीब है और एक हज़ार हिजरी आते-आते दुनिया ख़त्म हो जायेगी। शायद जायसी ने 'आख़िरी कलाम' भी इसी हवा के झोंके में लिखा हो।

अब तक के विवेचन से जायसी का जो सबसे तर्कसंगत चित्र उभरता है, वह यह है कि जायसी एक आत्म-सजग, आत्म-विश्वासी और अत्यन्त संवेदनशील कवि थे। एक सशक्त, किन्तु अलीक विचारक भी थे। उनकी अनुभूति में वह गहरी तीव्रता थी जो सृजनशीलता को मनुष्य के प्राणतत्त्व से जोड़ती है। इसकी सम्भावना बहुत कम है कि वे साधू बाबा या सूफ़ी फ़कीर भी रहे हों, बल्कि जो भी संकेत मिलते हैं, वे इस सम्भावना के विरुद्ध जाते हैं। यह भी सम्भव है कि जायसी न केवल किसी मठ से नहीं जुड़े, बल्कि किसी दरबार से भी नहीं जुड़े। इसके कारण उन्हें उपेक्षा और सम्भवतः ग़लतफ़हमी का भी शिकार होना पड़ा।

जायसी द्वारा दी हुई दो अन्य सूचनाओं का उल्लेख करना चाहूँगा। इसमें से एक सूचना तो स्पष्ट है, दूसरी कुछ पहेली की तरह है और उसके लिए व्याख्या की ज़रूरत है। इन दोनों सूचनाओं के रंग भी जायसी के ऊपर दिये नये चित्र से मेल खाते हैं।

पहली सूचना जायसी ने अपने चार मित्रों के बारे में दी है। इस तरह की सूचना को अपने काव्य में प्रस्तुत करने वाले जायसी अकेले हैं। फ़ारसी मसनवियों या अवधी के अन्य प्रेमाख्यानों में किसी कवि ने अपनी मित्रमण्डली का इस प्रकार उल्लेख नहीं किया है। ईश्वर-वन्दना, राजस्तुति या गुरु-प्रणाम की तरह यह मात्र काव्यरूढ़ि का निर्वाह नहीं है। अवश्य ही ये दोस्त जायसी

के जीवन के ऐसे अविभाज्य अंग थे कि जायसी के लिए उन्हें भी अपने साथ अमर करना जरूरी हो गया। इन चारों मित्रों के नाम हैं—यूसूफ़ मलिक, (या शायद मलिक यूसुफ़), मियाँ सलोने, सलार और बड़े शेख़।

चूंकि इस मित्र-वर्णन में जायसी की बहुत् सूक्ष्म मन:स्थितियाँ संग्रथित हैं, अतः इस कड़वक को पूरा उद्धृत करने की अनुमति चाहूँगा :

चारि मीत कबि मुहमद पाये। जोरि मिताई सरि पहुँचाये॥
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी। पहिलैं भेद बात उन्ह जानी॥
पुनि सलार काँदन मति माहाँ। खांडै दान उभै निति बाहाँ॥
मिआँ सलोने सिंघ अपारू। बीर खेत रन खरग जुझारू॥
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। कइ अदेस सिद्धन्ह बड़ माने॥
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गुसाईं गढ़े॥
बिरिख जो आछहिं चन्दन पासाँ। चन्दन होहिं बेधि तेहि बासाँ॥

मुहमद चारिउ मीत मिलि भए जो एकइ चित्त।
एहि जग साथ जो निबहा ओहि जग बिछुरन कित्त॥

यूसुफ़ मलिक या मलिक यूसुफ़ पढ़े-लिखे, समझदार और संभवतः दुनियादार आदमी भी थे। 'पंडित औ ग्यानी' से ध्वनि ऐसी ही निकलती है। इनको सबसे पहले जायसी की 'भेद-बात' मालूम हुई। यह 'भेद-बात' क्या थी? शायद यूसुफ़ मलिक को जायसी ने पहली बार बताया हो कि उनकी महत्त्वाकांक्षा पद्मावत जैसा ग्रन्थ लिखने की है। या फिर भेद-बात जवानी के दिनों में कुछ प्रेम-जैसी चीज का चक्कर हो सकती है जिसका 'राज़दार' जायसी ने यूसुफ़ मलिक को बनाया। इस दूसरे अनुमान के लिए कुछ क्षीण संकेत 'आख़िरी कलाम' में हैं जिस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। पद्मावत में भी आरंभ में जायसी ने अपने को एक स्थान पर विरह का घायल तो कहा ही है :

जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया॥
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा॥

एक अन्य स्थान पर भी जायसी ने 'बोलु पपीहा पाँखि' अर्थात् प्रिय के दाहिने होकर मिलने की बात कही है। इन स्फुट संकेतों के साथ हम उस 'रक्त की लेई' को भी रख सकते हैं जिसे जायसी ने अपनी रचना-प्रक्रिया का अंग बताया है। जो भी हो, जायसी की भेद-बात को हम सम्प्रति जायसी और यूसुफ़ मलिक के बीच का भेद ही रहने दें। एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट करना चाहूँगा। कहा गया है कि जायसी बहुश्रुत तो थे, बहुत

पढ़े-लिखे नहीं थे। अगर इनके दोस्त यूसुफ़ मलिक, जो क़द में जायसी से छोटे ही थे, पंडित और ज्ञानी थे तो यह क़यास के बाहर है कि जायसी ख़ुद अच्छे-ख़ासे पण्डित और ज्ञानी नहीं थे।

दूसरे मित्र सलार नामधारी हैं। पाठान्तरों और अर्थ-क्लिष्टता के कारण इन महानुभाव का एक छोटा-सा इतिहास भी हो गया। शुक्ल जी के पाठ में ये सलार ख़ादिम थे। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सही पाठ 'पुनि सलार काँदन मति माहाँ' स्थिर किया, परन्तु 'सलार काँदन' एक नाम मानकर, 'बुद्धिमान सलार कादन' ऐसा अर्थ किया। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वास्तविक अर्थ पकड़ा—अर्थात्, 'सलार जिनकी मति में लड़ाई-झगड़ा (काँदन) ही भरा है।'

ज़ाहिर है कि सलार के इस परिचय में हल्की-सी स्नेहयुक्त चुटकी है। ऊपर से बिलकुल भोलापन और भीतर से उभरती हुई चुटकी या व्यंग्य जायसी की शैलीगत विशिष्टता है जिसे हम पद्मावत में अन्यत्र भी देख सकते हैं। यहाँ भी सलार सिर्फ़ 'काँदन मति माहाँ' नाक पर सुपारी भाँजनेवाले ही नहीं हैं, साथ-साथ 'खांडे दान उभै निति बाहाँ।' 'उभै' में हल्के श्लेष के साथ दोनों के अर्थ का भी समावेश कर दिया गया है। जैसे, न सिर्फ़ इनकी बाँह खांडादान के लिए उठती है, बल्कि जब देखिये तब, दोनों हाथों में तलवार उठाकर फुफकारना शुरू कर देते हैं। आज के हिन्दुस्तान की हालत में ऐसे लोगों को 'गुरु' या 'दादा' कहा जाता है। मैं कल्पना कर सकता हूँ कि उस समय की बदअमनी की हालत में ये जायसी के बहुत काम के दोस्त रहे होंगे और जायसी इन पर अंकुश भी रखते रहे होंगे।

तीसरे मित्र सलोने मियाँ हैं जो पेशे से सिपाही हैं। जैसा उस समय सामान्य था, रणक्षेत्र से फ़ुर्सत के समय में ये किसानी भी करते रहे होंगे।

चौथे बड़े शेख़ हैं। इन्हें जायसी ने सिद्ध कहा है। यह सन्त-स्वभाव के व्यक्ति थे और बेशक आध्यात्मिक चर्चा में जायसी के घनिष्ट रहे होंगे।

अंग्रेजी की कहावत है कि आदमी की पहचान उसके साथियों को देखकर की जा सकती है। ये चारों चार प्रकार के लोग हैं। जायसी ने न सिर्फ़ इनके साथ निभाया— बल्कि ये सब मिलकर एक ही चित्त वाले हो गये। इससे हम जायसी के स्वभाव की व्यापकता और एक महान् सर्जक की भाँति परस्पर विसंगत अनुभवों को मिलाकर एक कर देने की क्षमता देख सकते हैं। जायसी के स्वभाव में कुछ मस्त-मौलापन ज़रूर था जो इन सबको साध सका। इन चारों के साथ अपने रिश्ते को जायसी ने अपनी अद्वितीय मीठी शैली में एक-साथ ही विनय और वरिष्ठता की मुद्रा में बखाना है। आरंभ में तो उन्होंने

कहा कि इन चारों ने जायसी के साथ मित्रता जोड़कर उन्हें अपने समकक्ष बनाया। और, अन्त में उसी सहज भाव से जायसी ने यह भी कहा है :

बिरिख जो आछहिं चन्दन पासाँ। चन्दन होहिं बेधि तेहि बासाँ ।।

मलिक मुहम्मद समेत पाँच दोस्तों में अपनी सुगन्ध से उल्लसित चन्दन कौन है तथा चन्दन की सुगन्ध से बेधित शेष वृक्ष कौन हैं, जायसी ने इसे अनकहा छोड़ दिया है। हमारे लिए भी इसे खोल कर कहना आवश्यक नहीं है।

अब हम 'आख़िरी कलाम' में दिये हुए इशारे की पड़ताल करेंगे। यह इशारा इशारा ही है, सूचना नहीं। इशारा भी बहुत कुछ पहेली-जैसा है जिसे जायसी ने जानबूझ कर आधा ढँका रखा है। चूँकि 'आख़िरी कलाम' के इस अंश का मूल्यांकन विद्वानों ने नहीं किया है, अतः इसे पूरा उद्धृत करना चाहूँगा। 'आख़िरी कलाम' के वैज्ञानिक पाठशोध की स्थिति अभी नहीं आई है। पाठ असन्तोषप्रद है, किन्तु आशय बहुत कुछ समझ में आ जाता है। मैंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित पाठ लिया है क्योंकि उसमें जगह-जगह मतलब के ख़ब्त हो जाने की गुंजाइश कम है। अंश इस प्रकार है :

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदयानू ।।
तहाँ देवस दस पहुने आएउँ। भा बैराग बहुत सुख पाएउँ ।।
सुख भा सोचि एक दिन मानौं। ओहि बिन जिवन मरन कै जानौं ।।
नैन रूप सो गएउ समाई। रहा पूरि भरि हिरदै छाई ।।
जहवैं देखौं तहवैं सोई। और न आव दिस्टि तर कोई ।।
आपुनि देखि देखि मन राखौं। दूसर नाहिं सो कासौं भाखौं ।।
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपन दरसन आपुहि देखा ।।
अपने कौतुक कारन मीर पसारिन हाट।
मलिक मुहम्मद बिहनैं होइ निकसिन तेहि बाट ।।१०।।

धूत एक मारत गनि गुना। कपट रूप नारद करि चुना ।।
नाँव न साधु साधि कहवावै। तेहि लगि चलै जो गारी पावै ।।
भाव गाँठि अस मुख कर भाँजा। कारिख तेल घालि मुख माँजा ।।
परतहि दीठि धरत मोहि लेखे। दिनहि माँझ अँधियर मुख देखे ।।
लीन्हें चंग रात दिन रहई। परपँच कीन्ह लोगन महँ चहई ।।
भाइ बन्धु महँ लाई लावै। बाप पूत महँ कहै कहावै ।।
मेहरि भेस रैनि कै आवै। तरपड़ कै पूरुख ओ नवावै ।।
मन मैली कै हारी ठगै न पाएहु काहु।
बरजेउ सबहि मुहम्मद अस जिन तुम पतियाहु ।।११।।

अंग चढ़ावहु सूरी भारा। जाइ गहौ तब चंग अधारा ।।
जौ काहू सौं आनि चिहूँटै। सुनहु मोर बिधि कैसे छूटै ।।
उहैं नाँव करता कर लेऊ। पढ़ौ पलीता धूआँ देऊ ।।
जौ यह धुआँ नासिकहि लागै। मिनती करै औ उठि उठि भागै ।।
धरि बाईं लटि सीस झकोरै। करि पाँतर गहि हाथ मरोरै ।।
तबहि सँकोच अधिक ओहि होवै। छाड़हु छाड़हु कहि के रोवै ।।
धरि बाहीं लै थुका उड़ावै। तासौं डरै जो ऐस छुड़ावै ।।

है नरकी औ पापी टेढ़ बदन औ आँखि।
चीन्हत उहै मुहम्मद झूठ भरी सब साखि ।।१२।।

इस पूरे प्रसंग की सन्तोषजनक व्याख्या करना कठिन है। संदर्भ में दुरूहता है। जायस में पहुने — अतिथि अथवा दामाद—के रूप में आने पर जायसी को अपने जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना या अनुभूति से साक्षात्कार हुआ। इस अनुभूति को उन्होंने 'भा बैराग बहुत सुख पाएउँ' और उसके बाद ही 'सुख भा सोचि एक दिन मानौं। ओहि बिन जिवन मरन कै जानौं' कहकर व्यक्त किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के संस्करण में 'सुख भा सोचि एक दुख मानौं' है।

बैराग का अर्थ अनासक्त संन्यास नहीं है, बल्कि किसी एक के लिए ऐसी गहरी आसक्ति है कि चित्त कहीं अन्यत्र न लगे। इस अर्थ में पद्मावत में पद्मिनी को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा से ग्रस्त अलाउद्दीन के लिए 'बैराग' शब्द का उपयोग किया गया है :

मन ह्वै भँवर भवैं बैरागा। कँवल छाँड़ि चित और न लागा ।।

इसी प्रकार मंझन-कृत 'मधुमालती' में मधुमालती को सोई देख कर राजकुँवर के मन में जो उत्कट अभिलाषा उठती है, उसके लिए भी 'बैराग' शब्द का प्रयोग हुआ है :

सोवत देखि मैन बिकरारा। उठेउ कुँवर तन बिरह बिकारा ।।
सहज चितहि उपजेउ बैरागू। बिरह आइ भजिया कर लागू ।।

दृष्टव्य है कि बैराग अभिलाषा या वासना की उत्कटता मात्र का द्योतक है। इसमें कोई आध्यात्मिक ध्वनि अभीष्ट नहीं है। पद्मावत के आरम्भ में भी जायस से अपना संबंध बताने के बाद जायसी अपने को विरह का मारा हुआ बताते हैं—'जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।'

संक्षेप में, जायस में कोई मिला या मिली। इस भेंट के बाद जायसी का मन गहरी आसक्ति में पड़ गया। इस आसक्ति में सुख भी था और अजब

छटपटाहट भी थी। आँखों में सर्वत्र वही दिखने लगा या लगी। हृदय आपूरित हो गया। अपना देखा हुआ जायसी खुद देखते थे। मन में छिपाये हुए थे। दूसरा कोई हमराज़ भी नहीं था जिससे कहते। अपने कौतुक के लिए 'मीर' ने बाज़ार लगाई। सवेरे ही मलिक मुहम्मद उस बाज़ार से होकर निकल आये। इस अनुभव के कुछ दिन बाद शायद यही 'भेद-बात' थी जो जायसी ने यूसुफ़ मलिक को सबसे पहले बताई।

यह 'ओहि' कौन है जिसके बिना ज़िन्दगी मौत-जैसी हो गयी? और ये 'मीर' कौन हैं जिन्होंने बाज़ार लगवायी? शुक्ल जी ने मीर का अर्थ यहाँ परमेश्वर अनुमानित किया है। तो क्या यह सब परमेश्वर के साक्षात्कार की चर्चा है? परन्तु यह अर्थ जमता नहीं। 'मीर' शब्द स्थानीय प्रशासक या छोटे रजवाड़े के लिए प्रयुक्त होता था। परमेश्वर के लिए 'मीर' शब्द छोटा पड़ता है। न जायसी ने, न किसी और ने अन्यत्र इस शब्द का व्यवहार परमेश्वर के लिए किया है। फिर, इतने बड़े साक्षात्कार का उल्लेख इतना चलताऊ क्यों है? यह एक झलक दिखाकर इस तरह ख़त्म क्यों हो जाता है, जैसे सवेरे-सवेरे इस रास्ते से ही छुट्टी मिल गयी? अगले ही कड़वक में किसी ऐसी औरत का ज़िक्र क्यों शुरू हो जाता है जो धूर्त है, गुणों को गिन-गिन कर मारती है, शैतान की चुनी है, साध्वी कहलाती है, लेकिन उसका आग्रह है कि नाम न साधो, जो उसके साथ चले वह गाली पाता है, मुख पर भाव लाकर हाथ चमकाती है, आदमी के मुँह पर कालिख लगा देती है, देखते ही छलती है, उसको देखने से दिन में भी अँधेरा हो जाता है, रात-दिन चंग लिए रहती है, लोगों में प्रपंच करना चाहती है। भाई-बन्धु, माँ-बाप में लड़ाई करवा देती है, रात में औरत बनकर आती है और पुरुष को नीचे करके झुका देती है। मन को मलिन करके ठगिनी ठग लेती है, उसको कोई न ठग सका और मलिक मुहम्मद की वर्जना है कि ऐसे का कोई विश्वास न करे।

यह रूप वेश्या या छिनाल जैसा है। अगले कड़वक में तो नारी का यह रूप ठगिनी का ही नहीं, लगभग चुड़ैल-जैसा हो जाता है। यहाँ तो आदमी को सूली और भाले से लैस होकर, उसके आधार चंग को छीन लेने की सलाह दी गयी है। वह चुड़ैल लोगों को लग जाती है। अगर चिपट जाय तो छुड़ाने की तरक़ीब भी है। सृष्टिकर्त्ता का नाम लेकर पलीता पढ़े, धुआँ दे। जब यह धुआँ नाक में लगेगा तो विनती करेगी और उठ-उठ कर भागेगी। तब बाईं लट पकड़कर पटका दे, पैरों के नीचे दबाकर हाथ मरोड़े। तब उसको अधिक कष्ट होगा और 'छोड़ो-छोड़ो' कहकर रोवेगी। तब बाँह पकड़कर थूक दे।

जो इस तरह छुड़ाता है, उससे डरती है। आखिर तक आते-आते जायसी अपने स्वभाव के बिलकुल विपरीत शुद्ध गाली-गलौज पर उतर आते हैं। वह नरकी और पापी है, उसका मुँह टेढ़ा, उसकी आँख टेढ़ी। जायसी उसे ख़ूब पहचानते हैं, उसकी सारी क़समें झूठी हैं। जायसी अपने 'नारद' नामी शैतान को भी गाली का नहीं, कुछ दया का ही पात्र बनाते हैं। उदाहरणत: 'ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे से मैं हारा।' उस जायसी में कहाँ से इतने उल्लास के बाद इतनी कड़ुवाहट आ गयी कि आपे से बाहर हो गये? और यह सब क्यों इतना घुमड़ता रहा कि 'आख़िरी कलाम' में इसे कहकर सन्तुलित हो जाने की ज़रूरत पड़ गयी।

मेरी विनम्र धारणा है कि यहाँ संदर्भ परमेश्वर के साक्षात्कार का बिल्कुल नहीं है। बात शायद कुछ इस तरह हुई। जायस में जायसी किसी औरत पर दीवाने हुए। संभवत: वह उन्हें बाज़ार में मिली। कुछ दिन पागलपन सवार रहा। जब घर में कुहराम मचा, तब समझ में आया कि ऐसी आशिक़ी घर में तो झगड़ा कराती ही है, नीचे गिराकर आदमी से नाक भी रगड़वाती है। माशूका ने भी कुछ धोखाधड़ी की। शैतान की ख़ाला साबित हुई। जायसी ने न सिर्फ़ कान पकड़ा, बल्कि चुड़ैल भगाने की तरह लाहौल पढ़ा। फिर पलीता और धुआँ देकर और शायद कुछ धौल-धप्पा भी करके अपनी जान छुड़ाई। जायसी अपनी एक निजी घटना का अधखुला उल्लेख कर रहे हैं जिसके भीतर से वे निकल तो गये, लेकिन जिसने उनको हिलाकर ज़रूर रख दिया।

इस तड़पते हुए मोहभंग को लेकर जायसी क्या करते? तरह-तरह के साधुओं में शान्ति की तलाश की और अन्त में तय किया कि अपने रक्त की लेई से जोड़कर पद्मावत लिखेंगे। मगर जायसी की तड़प में सिर्फ़ ग़मे-इश्क़ ही नहीं था, उसमें एक बड़ा हिस्सा ग़मे-रोज़गार का भी था। यह सब पद्मावत में अन्तर्भुक्त हो गया।

अपने कानेपन को लेकर जायसी कुछ ज़रूरत से ज़्यादा चुभे हुए दिखते हैं। बीच-बीच में यह दर्द उभर आता है। यहाँ तक कि एक पूरा कड़वक ही इस चुभन के जवाब में पद्मावत में आ गया है :

एक नैन कबि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेइँ कबि सुनी ॥
चाँद जइस जग गिधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजिआरा ॥
जग सूझा एकइ नैनाहाँ। उवा सूक अस नखतन्ह माहाँ ॥
जौ लहि अँबहि डाभ न होई। तौ लगि सुगँध बसाइ न सोई ॥
कीन्ह समुद्र पानि जौं खारा। तौ अति भएउ असूझ अपारा ॥

जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा। भा कंचनगिरि लाग अकासा॥
जौं लहि घरी कलंक न परा। काँच होइ नहिं कंचन करा॥

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रुपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ॥ १।२१॥

इस वक्तव्य को हम जायसी की परिचित मीठी गर्वोक्तियों में गिन सकते हैं। लेकिन कानेपन को लेकर इतना उद्वेग क्यों? इस प्रसंग के कुछ ही बाद जायसी ने लिखा है कि जिसने उनका मुँह देखा, उसी ने हँसी उड़ाई। हम सोच सकते हैं कि जायसी अपने कानेपन के कारण अक्सर लोगों के परिहास या कभी-कभी उपहास के शिकार होते थे। काने आदमी का सामने पड़ जाना आज भी अपशकुन माना जाता है। जायसी का युग तो अंधविश्वासों से भरा हुआ युग था ही। अगर जायसी सूफ़ी सन्त होते और उनके बाबा-व्यक्तित्व के चारों ओर चमत्कार और जादू-टोने का घटाटोप बँधा होता तो इससे वे कब के उबर गये होते। श्रद्धावान् लोगों ने एक आँख के साथ भी चमत्कार जोड़ दिया होता, जैसा उस युग में आम बात थी। लेकिन वे बाबा नहीं थे। केवल प्रबल प्रतिभा और मेधा के धनी कवि ही थे। उनकी शक्ति अपने 'निरमल भावों' से भरी हुई कविता में ही थी। उनके लिए उनकी कविता को सुनना और समझना ज़रूरी था जो जायस के दादुरों के बूते के बाहर की चीज़ थी। कविता सुनकर मर्मज्ञ की आँखों से जो आँसू निकलते थे, वही उनके पास एक-मात्र चमत्कार था। इसीलिए कानेपन की कीर्ति इस पूरे कड़वक में काव्योचित तर्कों से सिद्ध की गयी है, बाबागिरी के तर्कों से नहीं।

जो भी हो, इस उल्लेख में कवि के आहत स्वाभिमान की हल्की-सी प्रतिध्वनि अवश्य सुनाई पड़ती है। अक्सर मैं सोचता हूँ कि यदि मैं जायसी का दोस्त काँदन मतिवाला सलार गुरु होता, तो मेरा एक काम यह भी होता कि मेरे गुणी मित्र जायसी पर कोई हँसता या उन्हें मनहूस मानता, तो जायसी चाहे मुझे रोकते ही, परन्तु मैं एक बार ज़रूर खांडा उठाकर दौड़ पड़ता।

पद्मावत जायसी ने क्या किसी साम्प्रदायिक या आध्यात्मिक उद्देश्य से लिखी? उन्होंने यह कहीं नहीं कहा है कि पद्मावत की यह कथा कलिकाल के पापों का विनाश करने वाली है; इसे जो पढ़ेगा, वह सवाब या पुण्य का अधिकारी होगा। जायसी के आसपास ही 'छिताई-वार्ता' नामक पुस्तक पहले नारायण और बाद में बढ़ाकर रतनरंग ने लिखी। 'छिताई-वार्ता' का काव्य-स्तर शुद्ध मनोरंजन का है। ऐसी पुस्तक का भी माहात्म्य इस तरह बताया गया है:

इतनी कथा सुनै दे कान। तिनको फुरै गंग अस्नान ।।

'छिताई-वार्ता' में गंगा-स्नान जैसा कोई पुण्य नहीं दिखता। फिर भी, कवि को दावा करने से कौन रोक सकता है ? जायसी से कुछ पूर्व कुतबन ने 'मृगावती' नाम की जादू-भरी कहानी लिखी। उसमें भी कुतबन ने दावा किया :

पहिलेहि ये दुइ कथा अही। जोग सिंगार वीर रस कही ।।
पुनि हम खोलि अरथ सब कहा। लघु दीरघ कौतुक नहिं रहा ।।

× × ×

बहुतै अर्थ अहहि यहि महँ जो कोइ सुधि से बूझ।
कहेउँ जहाँ लहु परेऊँ जो कुछ हिदै मैं सूझ ।।

अर्थात्, कुतबन ने भी यह दावा किया कि उनकी कविता में बड़े गूढ़ अर्थ भरे हैं जिन्हें उन्होंने खोल कर कहा है। जायसी के बाद तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के लिए मंगलकारी और कलिमलहारी जो दावे किये हैं, वे सर्वविदित हैं। जायसी से लगभग डेढ़ सौ साल पहले मौलाना दाऊद ने 'चन्दायन' लिखा। दुर्भाग्य से 'चन्दायन' का अन्तिम अंश, जिसमें अक्सर कथा-माहात्म्य के दावे होते हैं, लुप्त है। फिर भी एक जगह दाऊद अपने काव्य के अर्थविचार की विशालता का संकेत देते हैं (कड़वक ३२८) :

दाउद कबि चाँदायन गाई। जेइँ रे सुना सो गा मुरुझाई ।।
धनि ते बोल धनि लेखनहारा। धनि ते आखिर धनि अरथु विचारा ।।

इसके साथ जब हम 'मुन्तखिबु-तवारीख़' में बदायूँनी के दाऊद-सम्बन्धी उल्लेख मिलाते हैं तो दाऊद ने भी कुतबन की तरह दावा किया होगा—इसका अनुमान लगा सकते हैं। बदायूँनी के तज़किरे का हिन्दी अनुवाद कुछ इस तरह होगा :

"सन् ७७२ हि० (१३७० ई०) में ख़ानेजहाँ, जो फ़ीरोज़शाह का प्रधान मंत्री था, मर गया और उसका लड़का जूनाशाह उसके पद पर नियुक्त हुआ। 'चंदायन' जो हिन्दी की एक मसनवी है और लोरिक तथा चाँदा के प्रेम का वर्णन करती है, उसके लिए मौलाना दाऊद द्वारा लिखी गई। यह इन प्रदेशों में इतनी प्रख्यात है कि उसे प्रशंसा की अपेक्षा नहीं है। मखदूम शेख़ तकीउद्दीन वाइज़ रब्बानी इसके अंश प्रवचन-पीठ से पढ़कर सुनाते थे और इसे सुनकर लोगों को अद्‌भुत आनन्द प्राप्त होता था। जब उस युग के कुछ विद्वानों ने शेख़ से मसनवी को इस प्रकार महत्त्व देने का कारण पूछा तो उन्होंने

उत्तर दिया कि यह रचना ईश्वरीय सत्य और इशारों से भरी हुई थी, सुरुचिवान् और प्रेमी जनों के लिए आनन्दपूर्ण चिन्तन की सामग्री प्रदान करती थी, कुरान की कुछ आयतों को स्पष्ट करने में उपयोगी थी और इसमें भारत की संगीतात्मकता भरी हुई थी।"

'चंदायन' के लिए दाऊद ने दावा किया हो या न किया हो, गूढ़ार्थों का दावा तकीउद्दीन वाइज़ रब्बानी और अब्दुल कादिर बदायूँनी ने तो कर ही दिया। मज़ा यह है कि 'चंदायन' में उतना भी तसव्वुफ़ ढूँढ़े नहीं मिलता जितना खोजने वाले को आसानी से पद्मावत के प्रथमार्द्ध में मिल जाता है।

इस सबके विपरीत, जायसी कथा के आरम्भ होते ही, जैसे गूढ़ार्थ तलाश करने वालों को होशियार करते हुए कहते हैं :

सिंघल दीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनि बरन सुनावौं।।
बरन क दरपन भाँति बिसेखा। जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा।।

वर्णन की विशेषता दर्पण की भाँति है। जिसका जैसा रूप है, वह वैसा ही उसमें दिखलाई पड़ता है। जायसी के इस दर्पण-न्याय से यदि आज का यथार्थवाद अभीप्सित नहीं है तो प्रतीकवाद या रूपक-निर्वाहवाद या अन्योक्ति-वाद तो बिलकुल नहीं है। अगर जायसी का अभिप्रेत सूफ़ी मतवाद होता तो दावा करने में उन्हें कौन रुकावट थी—जैसा निज़ामी ने 'यूसुफ़-ज़ुलेखा' में किया या मौलाना रूम ने अपनी 'मसनवी-ए-मानवी' में किया?

अब हम विदा लेने से पहले इस अत्यन्त मानवीय, संवेदनशील और सर्वव्यापी दृष्टि वाले मलिक मुहम्मद जायसी की ओर एक बार फिर मुड़कर देख लें जो जायस में सोलहवीं शताब्दी ईसवी में अपने खेत के किनारे खड़ा है। वह बूढ़ा हो गया है। शक्ति चली गई, शरीर क्षीण हो गया है। एक आँख है, उससे भी कम दिखता है। सिर्फ़ आँसुओं का काम उससे लिया जा सकता है। दाँत गये, मुँह पोपला हो गया है। आवाज़ भी फटी हुई अरुचिकर हो गयी है। बुद्धि ने साथ छोड़ दिया, हृदय बावला हो गया है। और जो हमेशा का साथी गरबीलापन था, वह भी जाता रहा। सिर झुक गया है। कान गये, ऊँचा सुनाई पड़ता है। गौरव भी गया। बाल धुनी हुई रूई या भुवे की तरह सफ़ेद हो गये। सिर हिलता है। अब सिर्फ़ पराये हाथ मृत्यु की प्रतीक्षा है। लेकिन इस बुड्ढे के मानस में न सिर्फ़ जवानी की याद है, बल्कि जवानी में गुज़री हुई अनुभूतियों का विशाल सागर निरंतर लहरें मारता रहता है। उसे मालूम है कि जीवन तभी तक है जब तक यौवन साथ है।

वेश से बिलकुल रूखा-सूखा है, लेकिन उसके भीतर एक धूल लपेटा हुआ माणिक्य है। जब वह क़लम उठाता है तो धूल उड़ जाती है और भीतर का माणिक्य दिप-दिप करने लगता है। अमृत की वर्षा होने लगती है। इस बूढ़े को ध्यान से देखें। वह चमत्कारी बाबा नहीं है, साधारण मनुष्य है। सूफी शेख़ नहीं है, कवि है :

हिअ भँडार नग आहि जो पूँजी। खोली जीभ तारा कै कूँजी ॥
रतन पदारथ बोलइ बोला। सुरस पेम मधु भरी अमोला ॥
जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया ॥
फेरे भेस रहइ भा तपा। धूरि लपेटा मानिक छपा ॥

मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
जेइँ मुख देखा तेइँ हँसा सुना तौ आए आँसु ॥१॥२३॥

४

कबि कै बोल खरग हिरवानी

यह कहना कि पद्मावत सूफ़ी ग्रन्थ है, एक बात है। यह कहना कि पद्मावत में सूफ़ी मत या सूफ़ी मतों के तत्त्व हैं और ये तत्त्व कथा के प्रधान अंश हैं, दूसरी बात है। यह कहना कि पद्मावत में सूफ़ी तत्त्व हैं, लेकिन वे कथा के प्रधान अंश नहीं हैं, तीसरी बात है। पद्मावत के बारे में अधिकांश आलोचकों और विद्वानों की राय पहले प्रकार की है। यह राय इतनी बार दुहराई गयी है कि लगभग उसी तरह स्वयंसिद्ध मान ली गयी है जिस तरह यह धारणा कि जायसी स्वयं एक सूफ़ी सिद्ध थे। इस राय के प्रमुख आरम्भ-कर्त्ता ग्रियर्सन थे और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कुल मिलाकर इस राय पर मुहर लगाई, यद्यपि शुक्ल जी की जायसी-संबंधी प्रसिद्ध 'भूमिका' में उनकी आलोचक-दृष्टि नागमती के विरह-वर्णन में ही रमी है जिसका कोई सीधा संबंध तसव्वुफ़ से नहीं बनता। पुराने लोगों में तीसरी राय के, कि पद्मावत के सूफ़ी तत्त्वों को प्रधानता नहीं देनी चाहिए, पद्मावत के परवर्ती अनुवादकर्त्ता श्री शिरेफ़ हैं। लेकिन श्री शिरेफ़ की राय को हिन्दी आलोचना और शोध में कोई महत्त्व नहीं दिया गया।

अन्ततः जायसी के सिद्ध काव्य-ग्रन्थ का स्वरूप-निरूपण ग्रन्थ की व्याख्या का प्रश्न है। व्याख्या के लिए पद्मावत के विश्लेषण से पहले मैं अपने निष्कर्ष का उल्लेख कर देना चाहूँगा। पद्मावत का बारम्बार पाठ करने के उपरान्त मेरी धारणा तीसरी राय के आसपास परिपुष्ट होती गयी है। बल्कि, मैं कुछ और नीचे उतर कर कहना चाहूँगा कि जायसी ने अपनी संवेदना को सर्जनात्मक रूप प्रदान करने के लिए उस युग में परंपरा अथवा रूढ़ि, लोकमानस अथवा काव्यशास्त्र, दर्शन अथवा योग, संस्कृत अथवा फ़ारसी के बहुत सारे उपलब्ध उपादानों का उपयोग किया है। इन विविध और कभी-कभी असंगत उपादानों को उन्होंने अपनी जिस भावनात्मक भट्ठी में गलाकर एक किया है, वह उनकी निजी सम्पत्ति है। इन तमाम उपादानों में अन्य मुहावरों की तरह तसव्वुफ़ का मुहावरा भी आ गया है। लेकिन तसव्वुफ़ का यह प्रयोग केवल विशिष्ट संदर्भ में भावना को गहराई देने के लिए उसी तरह हुआ है जिस तरह उक्ति की

अन्य विशिष्टताओं का। इस प्रकार तसव्वुफ़ पद्मावत का एक तत्त्व भी नहीं ठहरता, केवल उपलब्ध काव्यात्मक मुहावरे का एक प्रयोग ही है।

परन्तु जायसी के व्यक्तित्व और उनकी कृति पद्मावत के चारों ओर सूफ़ीवाद का इतना मलबा इकट्ठा हो गया है कि कवि और उसकी कविता का साक्षात्कार करने के लिए सूफ़ीवाद की इस लगभग बद्धमूल धारणा की कुछ विस्तार से उधेड़-बुन करना ज़रूरी है। आशा करता हूँ कि जायसी के कवि-व्यक्तित्व की खोज के दौरान हमने इस मलबे को हटाने में कुछ सफलता प्राप्त की।

इस सफ़ाई की ज़रूरत इस कारण से भी है कि कवि-रूप में जायसी दुहरी उपेक्षा के शिकार हुए हैं। मध्ययुग में जब सूफ़ी या बाबा होने की कीर्ति उनके काव्य के प्रति आकर्षण पैदा कर सकती थी, वे उपेक्षित हुए, क्योंकि किसी सूफ़ी सम्प्रदाय में उन्हें पूर्णतः पचा लेने की शक्ति नहीं थी। हमने देखा कि उनका ज़िक्र कोई नहीं करता और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब सूफ़ी होने की कीर्ति कवि के दक़ियानूस और अपरिचित होने के ख़तरे से जुड़ गयी है, उनके चारों ओर तसव्वुफ़ का लबादा घेर दिया गया। अतः अधिकांश वर्तमान लेखकों, विचारकों और आलोचकों के लिए जायसी अप्रासंगिक हो गये हैं।

मैंने आरम्भ में कहा है कि सूफ़ीवादी धारणा की शुरुआत ग्रियर्सन ने की। इस वक्तव्य को थोड़ा संशोधित करके और पीछे ले जाना होगा। सूफ़ीवाद के चौखटे में पद्मावत को कसने का प्रयास करने वाला शायद पहला आदमी वह नामालूम व्यक्ति था जिसने पद्मावत में वह प्रसिद्ध क्षेपक जोड़ा जिसके अनुसार चित्तौड़ तन है, राजा मन है, नागमती दुनिया-धन्धा है, आदि-आदि। इस क्षेपक के अनुसार पद्मावत की पूरी कथा एक रूपक या बड़े पैमाने पर अन्योक्ति हो गयी और यह क्षेपक उस रूपक की कुंजी। इस क्षेपक को प्रामाणिक पाठ मानने की विवशता ग्रियर्सन और शुक्ल जी, दोनों के सामने थी। उनके दृष्टि-भ्रम में इस क्षेपक की बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी थी। एक तरफ़ वे यह भी देखते थे कि कुंजी पूरी तरह कथा में बैठती नहीं थी, दूसरी ओर वे इस कुंजी-क्षेपक को अनदेखा भी नहीं कर सकते थे।

लोग प्रसिद्ध ग्रन्थों में क्षेपक क्यों डालते हैं? तीन कारण तो प्रत्यक्ष ही दिखते हैं। एक, प्रसिद्ध कृति को अपने या अपने संप्रदाय के योग्य बनाने के लिए। दो, अपने किसी आनुषंगिक मत को स्वीकृत या प्रचारित करवाने के लिए। तीन, कृति में कोई अपूर्णता लक्षित करके उसे पूर्णता देने के लिए। क्षेपक का उलटा होगा—प्रतियाँ बनाते समय जानबूझ कर कुछ अंशों को निकाल देना।

इस प्रक्रिया में भी यही मनोवृत्तियाँ अलग-अलग या साथ-साथ काम कर सकती हैं। क्षेपककार इस तरह, ऐसे युग में जब विधिवत् आलोचना का रिवाज़ न हो, व्याख्याकार अतः आलोचक का काम परोक्षतः करता है। सामान्यतः हम क्षेपककार के नाम और उद्देश्य से परिचित नहीं होते। परन्तु मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' के संबंध में एक क्षेपककार की स्वीकृति उपलब्ध है जिससे हम इस मनःस्थिति का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

'चन्दायन' का फ़ारसी अनुवाद अब्दुल कुद्दूस गंगोही नाम के एक सूफ़ी ने किया। इस सम्बन्ध में 'लतायफ़े-क़ुद्दूसी' नामक ग्रन्थ का हवाला देते हुए डॉ० विश्वनाथप्रसाद ने अपने सम्पादित ग्रन्थ की भूमिका में निम्नलिखित उद्धरण दिया है :

> "हज़रत क़ुतबी अब्दुल कुद्दूस गंगोही दर इब्तिदाये हाल ख़ास्तन्द कि नुस्ख़ये चन्दायन हिंदवी रा ब फ़ारसी कुनंद। बाद अज़ बयाने तौहीद व नात ख़ास्तन्द कि दर मेराज चोज़े बनवीसन्द। दर चंदायन मेराज न बूद।"
>
> —अब्दुल कुद्दूस गंगोही ने अपनी साधना की प्रारंभिक अवस्था में चाहा कि हिन्दी 'चंदायन' की किताब का फ़ारसी में अनुवाद कर लें। तौहीद (ईश्वर के एकपन का बखान) और नात (मुहम्मद साहब की स्तुति) के बयान के बाद मेराज (मुहम्मद साहब की सिद्धावस्था) के बारे में भी कुछ लिखें। 'चंदायन' में मेराज नहीं था।

बेशक यहाँ क्षेपक मूल ग्रन्थ में न होकर अनुवाद में डाला गया है। परन्तु साम्प्रदायिक विश्वास की दृष्टि से ग्रन्थ को पूर्ण और उपयोगी बनाने का उद्देश्य स्पष्ट है।

पद्मावत में प्रसिद्ध कुंजी-क्षेपक द्वारा पूरी कथा पर एक संप्रदाय के आध्यात्मिक सिद्धान्तों के रूपक का आरोपण इसी तरह का एक प्रयास है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार, इस क्षेपक का सबसे पहला आलेख उन्हें १००७ हि० की प्रति में मिला जो जायसी के डेढ़ सौ साल से अधिक बाद की प्रति है। जिसने भी यह क्षेपक डाला हो, उसकी दो इच्छाएँ स्पष्ट हैं। पहले तो उसे यह लगा होगा कि ग्रन्थ को सूफ़ी आध्यात्मिक व्याख्या में ढाला जा सकता है। दूसरे, इस व्याख्या में उसे कठिनाई महसूस हुई होगी, क्योंकि सीधे-सीधे समूचे पद्मावत की सूफ़ी व्याख्या करना असंभव है। इस कठिनाई का निदान करने की इच्छा से उसने कुंजी-क्षेपक को डालकर कहानी को रूपक में बदलने की कोशिश की। इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मावत को सूफ़ी मतवाद का

ग्रन्थ बनाने का प्रयास अठारहवीं शताब्दी ईसवी के अन्त में शुरू हुआ और संभवतः उसी के आसपास जायसी के बारे में बाबागिरी की किंवदन्तियाँ भी शुरू हुईं।

इस प्रसंग में एक और रोचक तथ्य भी उल्लेखनीय है। शाहजहाँ के काल में बज़्मी नाम के फ़ारसी शायर ने पद्मावत का फ़ारसी अनुवाद किया। बज़्मी साहब सूफ़ी थे। मुझे उनके फ़ारसी अनुवाद की विधिवत् तुलना मूल ग्रन्थ से करने का अवसर नहीं मिल पाया है, परन्तु डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह ने गोरखपुर विश्वविद्यालय की जायसी-सम्बन्धी एक परिगोष्ठी में यह सूचना दी कि बज़्मी के अनुवाद में नागमती का विरह-वर्णन नदारद है और शायद इसका कारण यही है कि वह अंश सूफ़ीवाद के दार्शनिक ढाँचे में ठीक-ठीक बैठ नहीं पाता। बज़्मी के अनुवाद के कुछ अंश जो मैंने देखे, तो यह भी पाया कि उसमें अलाउद्दीन का चरित्र मूल पद्मावत से अधिक उज्ज्वल और प्रशंसित बनाकर प्रस्तुत किया गया है। अनुवाद में स्थान-स्थान पर अलाउद्दीन के लिए कुछ स्तुतिपरक विशेषण जोड़ देने से यह काम बहुत आसानी से हो जाता है। इस तरह बज़्मी के अनुवाद में कहीं-कहीं परिवर्तन करके पद्मावत की दार्शनिक और ऐतिहासिक दृष्टि को अपने सम्प्रदाय के लिए उपयोगी बनाने का प्रयास दिया गया है।

ग्रियर्सन और शुक्ल जी के सामने सूफ़ी या असूफ़ी अखाड़ों में पद्मावत के मतवादी उपयोग का चलन, जायसी के बारे में बढ़ती हुई किंवदंतियाँ और सबसे बढ़कर वह कुंजी-क्षेपक था जिसे उन्होंने जायसी का लिखा हुआ ही माना। बेशक शुक्ल जी ने इतना तो देखा ही कि जो कुंजी दी गयी थी, उससे पद्मावत की सटीक सूफ़ी-व्याख्या करना कठिन था। कथा में रूपक का सन्तोष-प्रद निर्वाह नहीं मिलता। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि पद्मावत के आध्यात्मिक अर्थ का स्वरूप अन्योक्ति का नहीं, समासोक्ति का है। लेकिन कुंजी-क्षेपक को प्रामाणिक मानने के कारण, वे उसे अनदेखा भी नहीं कर सकते थे। पद्मावत के बारे में शुक्ल जी की दृष्टि इसी असमंजस का परिणाम दिखती है। एक ओर तो उन्होंने पद्मावत का प्रमुख स्वरूप सूफ़ी ग्रन्थ का ही माना, दूसरी तरफ़ उन्होंने अपनी काव्य-प्रशंसक दृष्टि नागमती के विरह-वर्णन पर केन्द्रित कर दी जिसकी वेदना की मार्मिक तरलता उनके लिए अधिक महत्त्व-पूर्ण थी, सूफ़ी मतवाद में उसकी कोई दार्शनिक व्याख्या बने या न बने। शुक्ल जी के बाद श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस असमंजस को भी छोड़ दिया। उन्होंने पद्मावत को असफल कृति इस आधार पर घोषित किया कि उसमें रूपक का सम्यक् निर्वाह नहीं हो सका है। अगर हम पद्मावत को सूफ़ी ग्रन्थ

मानते हैं तो चतुर्वेदी जी के निष्कर्ष को तर्कशः खण्डित नहीं कर सकते। अगर सूफ़ीवाद पूरी कथा में अनुस्यूत नहीं है तो मानना होगा कि जायसी लिखने कुछ चले थे, बहाव में आकर लिख कुछ और गये। इस प्रकार कृति की केन्द्रित एकता उनके हाथ से जाती रही।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने कुंजी-क्षेपक को प्रक्षिप्त सिद्ध करने के उपरान्त अपने परिशोधित पाठ की भूमिका में ठीक ही लिखा है : "इस छंद को प्रामाणिक मान लेने के कारण जायसी के रूपक-निर्वाह के विषय में शुक्ल जी ने और उनके पीछे के जायसी के समस्त आलोचकों ने कितना बड़ा वितंडावाद खड़ा किया है।" लेकिन डॉ० गुप्त ने एक क़दम और आगे बढ़कर यह प्रश्न नहीं पूछा कि यदि रूपक, कथित अथवा अकथित, धराशायी हो जाता है तो पद्मावत को सूफ़ी मत का ग्रन्थ मानने का क्या औचित्य रह जाता है?

लेकिन, सूफ़ीवाद से जायसी को अलग करके समझने के लिए कुछ और गहरे जाने की आवश्यकता है। रूपक-सिद्धान्त के धराशायी हो जाने के बावजूद यह कहा जाता है कि प्रेम की पीर, विरह की तड़प और पद्मावती को विश्वव्यापक ज्योति के रूप में इंगित करना आदि पद्मावत के ऐसे तत्त्व हैं जो तसव्वुफ़ से जायसी का सम्बन्ध निर्विवाद रूप से स्थापित करते हैं। यह विवेचन सूफ़ीवाद को कुछ आन्तरिक सिद्धान्तों तक सीमित कर देता है। लेकिन हिन्दुस्तान में सूफ़ी-आन्दोलन सिर्फ़ सिद्धान्त-चर्चा या व्यक्तिगत साधना अथवा सिद्धि की अवस्था ही नहीं था। सूफ़ी-आन्दोलन के पीछे संगठन थे, सिलसिले थे, उस समय के राजनैतिक-सांस्कृतिक-सामाजिक संघर्षों में इन साधुओं और संगठनों की भूमिका थी—और यह भूमिका अलग-अलग सूफ़ियों ने अलग-अलग तरह से निभाई। कुल मिलाकर ये सूफ़ी-संगठन सुलतानों और बादशाहों की नीतियों के अन्तर्गत ही काम करते थे।

यहाँ भारत में सूफ़ी-आन्दोलन के विस्तृत विवेचन का अवसर नहीं है। अतः सूफ़ियों की भूमिका के विषय में मैं कुँवर मुहम्मद अशरफ़ के कथन को उद्धृत करके सन्तोष करूँगा :

> "सामान्यतः सूफ़ी लोग अपने विवेचन में इतने रूढ़िवादी हैं कि साधारण जन की ज़िन्दगी और उनकी आध्यात्मिक ज़रूरतों से वे कटे हुए दिखते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों के निकट सम्बन्धों और परस्पर संघात से मुस्लिम समाज में जो सामाजिक परिवर्तन पैदा हो रहे थे, उन्हें मान्यता देने से वे कतराते हैं। वस्तुतः सूफ़ियों का सम्पर्क जीवन की सामाजिक धाराओं से, अन्य मुस्लिम वर्गों की तुलना में,

> अधिक आत्मीय था, लेकिन उनके पैर दो नावों पर थे—और ख़तरा उन्हें दोनों तरफ़ से लगता था। वे पूरे पारम्परिक इस्लामी जीवन से असन्तुष्ट थे, लेकिन उनमें हिम्मत नहीं थी कि उलमा की ताक़त को, जो मुसलमानों के नेता थे, चुनौती दे सकें। अतः सूफ़ियों ने इस्लामी आस्थाओं की कट्टर व्याख्याएँ कवच की तरह ओढ़ लीं। इसी तरह वे मुस्लिम उमरा के जीवन और आचार को भी नापसन्द करते थे, लेकिन शासक वर्ग की सत्ता से वे इतने भयभीत थे कि उनका विरोध करके, या ईमानदारी से उनकी आलोचना करके, उनसे टक्कर लेना सूफ़ियों के बूते के बाहर की बात थी। पारम्परिक इस्लाम की प्रचलित व्याख्या से कुछ अलग उनके पास सामान्य जन को देने के लिए नहीं था—कहीं ऐसा न हो कि उनके ऊपर काफ़िर या अलीक होने का आरोप लग जाय।"

कुल मिलाकर श्री अशरफ़ का निष्कर्ष ठीक है। संभवतः अधिक विस्तृत विवेचन से हम इधर-उधर कुछ अपवाद या विशिष्ट व्यवहार की झलक पा लें, लेकिन सूफ़ी-आन्दोलन की वास्तविक भूमिका यही रही है। इस सन्दर्भ में जब हम पद्मावत की सांस्कृतिक और सत्ता-संघर्ष-सम्बन्धी दृष्टि को रखते हैं तो साफ़ दिखता है कि जायसी में बहुत-कुछ ऐसा है जो सूफ़ी-आन्दोलन के घेरे में नहीं समाता।

कवि, विचारक, इतिहास-लेखक और सूफ़ी के नाते अमीर ख़ुसरो का जबर्दस्त प्रभाव अपने समय में पड़ा। ख़ुसरो का बौद्धिक प्रभाव जायसी के युग में, बल्कि उसके बाद भी मुस्लिम-समाज पर बना रहा। बल्कि, अगर दन्तकथाओं पर विश्वास किया जाय तो ख़ुसरो का प्रभाव मुस्लिम-समाज के बाहर भी काफ़ी पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी तक हर मुस्लिम-मदरसे या अध्ययन-केन्द्र में ख़ुसरो की कृतियाँ पढ़ी जाती रहीं।

जायसी और ख़ुसरो के बीच कई अर्थों में होड़ है। ख़ुसरो ने जामी की प्रतिद्वन्द्विता में जो फ़ारसी प्रेमाख्यान लिखे, वे जायसी के सामने थे। ख़ुसरो ने अपने काव्य में हिन्दुस्तान की ज़मीन को जिस तरह अपनाया, उससे भी जायसी परिचित रहे होंगे। लेकिन सबसे बढ़कर ख़ुसरो ने अलाउद्दीन की चित्तौड़-विजय का जो आँखों-देखा हाल अपने 'खजायनुल-फ़तूह' अथवा 'तारीख़े-अलाई' में लिखा था, उसी को जायसी ने पद्मावत के उत्तरार्द्ध की कथा का आधार बनाया। जायसी और ख़ुसरो में कितना अन्तर है, इसे समझने के लिए ख़ुसरो द्वारा लिखित वृत्तान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है। ख़ुसरो का वृत्तान्त अत्यन्त अलंकृत फ़ारसी गद्य में है। उसका सरलीकृत अनुवाद इस प्रकार है :

"इस तारीख़ को विश्व-विजेता (अलाउद्दीन) ने चित्तौड़ की विजय के लिए डंका बजाने की आज्ञा दी और दिल्ली शहर से अपनी पवित्र ध्वजाओं को गतिमान किया। आकाश तक उठा हुआ सुलतान का काला छत्र उस क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और अपने दमामे की आवाज़ से, जो आकाश के कानों में गूँजती थी, सुलतान के दीन का सुसमाचार दिशाओं में गुंजरित करने लगा।

बादशाह ने अपना दरबार, जो आकाश के बादलों जितना ऊँचा था, उस जगह दोआबे के बीच स्थापित किया और उसके उल्लसित उत्साह से दोनों समुद्रों के किनारे तक भूकम्प आ गया। ...दाहिने और बायें की सेनाओं को आज्ञा दी कि गढ़ पर दोनों ओर से चढ़ाई करें। दो महीने में तलवार की बाढ़ के साथ पहाड़ी की कमर तक ही पहुँच सके और उसके ऊपर न जा सके। विचित्र गढ़ था कि पत्थरों की मार भी उसे तोड़ न सकी।"

इस 'धर्मयुद्ध' का कुछ और अलंकृत वर्णन करने के उपरान्त ख़ुसरो बतलाता है कि सोमवार, ता० ८ जमादि उस्सानी, हि० सं० ७०२ (अर्थात् २८ जनवरी, १३०३ ई०) को क़िला फ़तेह हुआ :

"और वह जहन्नुमी राय, ईश्वरीय कोप की बिजली से सिर से पैर तक जलकर, पत्थर के दरवाज़े से इस तरह उछलकर आया, जैसे पत्थर से आग उछलती है और उसने अपने को पानी में डाल दिया। वह जहाँपनाह के दरबार की ओर दौड़ा और तलवार की बिजली से बच गया। हिन्दू कहते हैं कि जहाँ पीतल होता है, वहाँ बिजली गिरती है। राय का चेहरा पीतल की तरह पीला पड़ गया था। निश्चित था कि अगर वह शाह की सेवा और शरण में न आ गया होता, तो तलवार की बिजली से नहीं बच सकता था।

जिस दिन राय ने आत्म-समर्पण किया, सुलतान का ग़ुस्सा ठण्डा नहीं हुआ था। लेकिन शाकाहारी राय जब पैरों-तले रौंदी हुई घास की तरह मुरझा कर गिड़गिड़ाने लगा तो, यद्यपि वह बाग़ी था, फिर भी बादशाह ने उसकी जान बख्श दी। लेकिन बादशाह ने अपने कोप की लू दूसरे बाग़ियों की ओर चलाई और हुक्म दिया कि जहाँ कहीं जवान हिन्दू देखें, घास-फूस की तरह जला डालें। एक दिन में, बादशाह की प्रचण्ड आज्ञा से, लगभग तीस हज़ार दोज़खी लोग काट दिये गये और ख़िज्राबाद (चित्तौड़) के मैदान में लगता था कि

घास नहीं, लाशें उगी हैं। बादशाही क्रोध की हवा ने सभी प्रमुख लोगों को जड़ से उठाकर उस प्रदेश से दोरंगापन ख़त्म कर दिया। और खेत जोतने वाली रैयत को, जिनमें काँटे नहीं उगते, मदद पहुँचाई। इस नीले दुर्ग की शाखाओं और जड़ों को महान् साम्राज्य के महान् वृक्ष ख़िज्र ख़ाँ के हवाले कर दिया गया और दुर्ग का नाम ख़िज्राबाद रख दिया गया। ···बादशाह ने उन सभी हिन्दुओं को, जो इस्लाम के वृत्त के बाहर पड़ते थे, क़त्ल कर डालने का कर्त्तव्य काफ़िरों का वध करने वाली अपनी दुधारी तलवार को इस तरह सौंपा कि अगर आज के दिन राफ़िज़ी, अर्थात् भिन्न मत रखने वाले नाम को भी इन काफ़िरों के हक की माँग करें, तो सच्चे सुन्नी लोग ईश्वर के इस खलीफ़ा का समर्थन सौगन्ध खाकर करेंगे।"

इस तरह गुजरात में पट्टन अथवा अनहिलवाड़ा को अलाउद्दीन द्वारा जीते जाने के वृत्तान्त का कुछ अंश अमीर ख़ुसरो के शब्दों में इस प्रकार है :

"इस प्रकार सोमनाथ के मन्दिर को मक्का की ओर झुकाया गया और जिस प्रकार पहले मन्दिर ने अपना सिर नवाया और बाद में समुद्र में जा गिरा, आप कह सकते हैं कि पहले उसने नमाज़ पढ़ी और बाद में स्नान किया। ···ऐसा दारुलकुफ़्र, अर्थात् कुफ़्र का देश, जो काफ़िरों का तीर्थ था, अब इस्लाम का मदीना हो गया ···कुफ़्र के इस पुराने देश में अज़ान की आवाज़ इतनी ऊँची उठी कि बग़दाद और मदीना तक सुनाई पड़ने लगी और ज़मज़म के कुण्ड तक गूँजने लगी ···इस्लाम की तलवार ने देश को उसी तरह शुद्ध कर दिया जिस तरह सूरज पृथ्वी को शुद्ध कर देता है।"

शुद अज़ शमशीरे इस्लाम आँ ज़मीं पाक।
चुनाँ कज़ आफ़ताबे आसमाँ ख़ाक॥

अमीर ख़ुसरो ने रणथम्भोर की विजय का भी उल्लेख किया है। इस वर्णन का मुहावरा भी इसी तरह कट्टर साम्प्रदायिक काफ़िर हिन्दू बनाम पवित्र इस्लाम का है। रणथम्भोर में क़िला टूटने के समय जौहर हुआ था। चूँकि जौहर का ज़िक्र जायसी ने पद्मावत के अन्त में चित्तौड़ के संबंध में किया है, अतः ख़ुसरो के वर्णन का कुछ अंश तुलनीय है। ख़ुसरो के अनुसार इस्लाम की सेना ने जहन्नुमी हिन्दुओं को रणथम्भोर में घेर लिया। कुछ दिन के घेरे के बाद जब क़िले में पानी और अन्न की कमी हो गयी और दुर्ग का पतन निकट आ गया तो राजा ने—

"पहाड़ की चोटी पर लाल फूलों के पर्वत की भाँति ऊँची आग जलाई और अनार की तरह स्तनों वाली सुन्दरियों को, जो उस क़िले में पली थीं, आग में झोंक दिया, यों कि आग से भी फ़रियाद उठने लगी। जब राजा ने उन बहिश्त की परियों-जैसी स्त्रियों को अपने सामने जहन्नुम में भेज दिया तो एक-दो और काफ़िरों को साथ लेकर क़िले में उतरा, ताकि अपने नाम की रक्षा करते हुए जान दे दे। यद्यपि सुबह की हवा चल रही थी, लेकिन पहरेदारों की नरगिसी आँखें नींद में डूबी थीं। जब राजा वहाँ पहुँचा, बुलबुल की तरह आवाज़ करने वाला मुतरिब वहाँ आया। उसने पुकार दी। सभी सिपाही अपनी तलवारें खींचकर वहाँ कूदकर आ गये और राजा का सर उड़ा दिया।"

ख़ुसरो ने इस पर टिप्पणी की है कि यह क़िस्सा रणथम्भोर की विजय का है जो इस प्रकार ईश्वर की मर्ज़ी से दारुल-क़ुफ़ से दारुल-इस्लाम बन गया।

"दास्ताने फ़तहे रणथम्भोर कन्दर यक ग़ज़ा।
गश्त अज़ाँसाँ दारे-कुफ़्रे दारे-इस्लाम दर क़ज़ा॥

चित्तौड़ के क़िले के टूटने और जौहर का उल्लेख जायसी ने पद्मावत के अन्त में इस दोहे से किया है :

जौहर भइँ इस्तिरी पुरुख भये संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम॥

शायद जायसी के दोहे में अमीर ख़ुसरो के शैर की स्मृति है। लेकिन दोनों की मन:स्थिति में भारी अन्तर है। ख़ुसरो काफ़िरों के ख़ून से धुलकर पृथ्वी को पाक होता देखता है और उल्लसित होकर इस साम्राज्यवादी सत्ता-संघर्ष को इस्लाम की विजय मानता है। जौहर करती हुई स्त्रियों के अनार की तरह कठोर स्तन ही उसे दीखते हैं। इसके विपरीत, जायसी उड़ती हुई दो मुट्ठी राख की तरह इस पृथ्वी-विजय को झूठा देखते हैं और उनकी आवाज़ में ट्रैजिडी, व्यंग्य और एक गहरे विषाद का सम्मिश्रण है जो जायसी के इस्लाम और अलाउद्दीन में गंभीर अन्तर की अनुभूति प्रस्तुत करता है।

अलाउद्दीन द्वारा दक्षिण-विजय के वृत्तान्तों में से एक और अंश उद्धृत करना चाहूँगा जिससे अमीर ख़ुसरो की ख़ून का स्वाद लेने वाली शैली अधिक स्पष्ट हो जायगी :

"हिन्दू राव घुड़सवारों की सेना के साथ बढ़ते आते थे, लेकिन

तुर्की सवारों के आगे मिट्टी में मिल जाते थे। पानी और ख़ून की बाढ़ ख़लीफ़ा (अलाउद्दीन) की फौज के सामने दया की भीख माँगने आती थी···या, यों कहें कि काफ़िरों की आत्माओं की प्रसन्नता के कारण ख़ून का प्याला इतना स्वादिष्ट हो गया था कि हर बार जब बादल ख़ून पर पानी बरसाता था तो ख़ून की प्यासी धरती उसे बहुत आनन्द से पी जाती थी। रक्त की इस शराब में नशा पैदा करने की ज़बर्दस्त ताक़त के बावजूद साकी आकाश की बोतल से बारम्बार उसमें और भी साफ़ पेय डालता रहता था, ताकि नशा और भी बढ़ जाय। इसी शराब और पानी से मृत्यु ने अपनी पहली घूँट का निर्माण किया था। इसके बाद हड्डियाँ ही दिखती थीं।"

इन उदाहरणों में सन्निविष्ट मानसिक कट्टरता पर टिप्पणी करना व्यर्थ है। जायसी का समूचा पद्मावत अमीर ख़ुसरो की इस मनोवृत्ति पर ज़बर्दस्त टिप्पणी है। ख़ुसरो का एक प्रसिद्ध शैर है :

"मुल्के दिल करदी ख़राबज़ तीरे नाज़
व-दरीं वीरानां सुलतानी हनोज़।"

(तूने हृदय के देश को अपने नाज़ की तलवार से उजाड़ डाला और अब इस वीराने में तू सुलतान बनकर बैठा है।)

इतिहासकार ख़ुसरो पर सबसे अच्छी टिप्पणी ग़ज़ल कहने वाले अमीर ख़ुसरो का यह शैर ही है। जायसी की कथा का अन्त करने वाले दोहे में, जिसमें स्त्रियाँ जल गईं, पुरुष संग्राम में लड़ मरे, दुर्ग चूर-चूर हो गया—और इस वीरान में इस्लाम के नाम पर सुलतान बैठा हुआ है, शायद अमीर ख़ुसरो के इस प्रसिद्ध शैर की अनुगूंज भी है। अमीर ख़ुसरो और जायसी के तुलनात्मक अध्ययन पर विस्तृत शोध की अपेक्षा है। लेकिन इसके संकेत काफ़ी मिलते हैं कि जायसी के सामने ख़ुसरो की कविता और अन्य रचनाएँ, विशेषतः 'ख़ज़ाय-नुल-फ़तूह' थीं। ख़ुसरो ने बादशाह कैकुबाद के फ़ैज़ाबाद में पहुँचने और वहाँ कुछ दिन रहने का वृत्तान्त अपनी एक रचना में दिया है। फ़ैज़ाबाद के शासक ने बादशाह की बड़ी ख़ातिर की और लम्बी-चौड़ी दावत दी। दावत के वर्णन में खाने-पीने की चीज़ों की लम्बी सूची फ़ारसी में प्रस्तुत करने में ख़ुसरो ने क़लम तोड़ दी है। पद्मावत में रतनसेन ने अलाउद्दीन की दावत की है। वहाँ भी जायसी ने जो खाने-पीने की चीज़ों का क़लम-तोड़ वर्णन किया है, उससे सहज अनुमान होता है कि गाँव की भाषा अवधी की होड़ सरकारी भाषा फ़ारसी से लगी हुई है। देखने वाले देखें और लोहा मानें।

प्रस्तुत सन्दर्भ में ख़ुसरो के 'ख़ंजायनुल-फ़तूह' से विस्तृत उद्धरण देने का मुख्य उद्देश्य जायसी और ख़ुसरो की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टियों में गहरा अन्तर परिलक्षित करना ही है। इस अन्तर को देखे बिना हम अच्छी तरह नहीं समझ पायेंगे कि जायसी के लिए अपने समय के सूफ़ियों का सांस्कृतिक घेरा क्यों छोटा पड़ता है और ख़ुसरो से मुक़ाबले में अनुभूति की गहराई, मर्म तक पहुँचाने वाली अन्तर्दृष्टि और मानवीय भावना की समरस और उदात्त व्यापकता—इन सब कसौटियों पर जायसी क्यों ज़्यादा बड़े कवि हैं।

ख़ुसरो हिन्दुस्तान में सूफ़ी शायरी के शीर्ष पर हैं। ख़ुसरो का ख़ुद का दावा अगर हम स्वीकार कर लें तो उनकी कविता ने फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि जामी के काव्य को भी भूकम्प-ग्रसित कर लिया। फ़ारसी के आधुनिक आलोचकों ने ख़ुसरो को हिन्दुस्तान-ईरान-समेत फ़ारसी कवियों में शिखरस्थ माना है। ख़ुसरो न सिर्फ़ सूफ़ी कवि थे, बल्कि चिश्तिया अखाड़े के प्रसिद्ध सूफ़ी बाबा निज़ामुद्दीन औलिया के प्रिय शिष्य भी थे। निज़ामुद्दीन औलिया दिल्ली के पास रहते थे और ख़ुसरो को बहुत मानते थे। कहा जाता है कि रात को जब औलिया अपनी कोठरी का दरवाज़ा बन्द करके पूजा में लीन हो जाते थे, तो उस समय भी ख़ुसरो को इजाज़त थी कि दरवाज़ा खुलवा कर बाबा से संपर्क करें। दूसरी तरफ़ ख़ुसरो ने यह भी कमाल दिखलाया कि दिल्ली की गद्दी पर एक के बाद दूसरे सुलतान, प्रायः पहले सुलतान को क़त्ल कर के बैठे, लेकिन सरकारों की इस हिंसात्मक उठा-पटक में ख़ुसरो बराबर राजकवि बने रहे और तरक़्क़ी भी करते रहे। सरकार और मठ, दोनों का जैसा तालमेल ख़ुसरो ने बैठाया, उससे भी स्पष्ट है कि सूफ़ियों के बारे में जो मूल्यांकन डॉ० अशरफ़ ने किया है, वह कुल मिलाकर ठीक ही है। हिन्दू-तुर्क सत्ता-संघर्ष के बारे में जो संकुचित दृष्टि ख़ुसरो के 'खज़ायनुल-फ़तूह' में मिलती है, वह बादशाहों और मुल्लाओं को ख़ुश करने वाली तो थी ही, निज़ामुद्दीन औलिया के मठ के लिए भी लाभदायक और स्वीकार्य थी।

ख़ुसरो की दृष्टि अपवाद नहीं है। वस्तुतः दरबार और मठ के तालमेल से निकली हुई सांस्कृतिक-सामाजिक दृष्टि जायसी के समय और उसके बाद भी काफ़ी शक्ति के साथ अपने को अभिव्यक्त करती रही। बरनी और बदायूँनी जैसे लेखकों में भी यह दृष्टि मिल जायगी। ख़ुसरो तो औरों के मुक़ाबले में अधिक उदार हैं।

लेकिन, वास्तविकता इतनी ही नहीं है। मुहम्मद ग़ोरी के हमले के बाद से दिल्ली की बादशाहत का इतिहास दो अतिभिन्न समाजों के मिलने, अलग

होने, फिर मिलने का इतिहास है। आकर्षण-विकर्षण की इस प्रक्रिया में ही बहुतों के लिए उनका बौद्धिक माहौल बनता है। इस घात-प्रतिघात के अलग-अलग विन्दुओं पर सभी लेखक खड़े हैं, चाहे वे फ़ारसी में लिखने वाले खुसरो, बरनी, बदायूंनी, अबुलफ़ज़ल या दाराशिकोह हों, या हिन्दी में लिखने वाले मौलाना दाऊद, कबीर, जायसी, सूरदास या तुलसीदास हों। इनमें शायद कबीरदास और जायसी ये दो ही लेखक हैं जो इन मिलते-टकराते समाजों के संधि-स्थल पर खड़े हैं। कबीरदास की प्रमुख मुद्रा हिन्दू-मुसलमान, दोनों समाजों के सरग़नाओं को चुनौती देने वाली है। उनका स्वर प्रतिरोधी है। लेकिन जायसी का स्वर प्रतिरोधी नहीं है। एक ज़बर्दस्त करुणा उन्हें आप्लावित कर रही है। इस करुणा की व्यथा जायसी के लिए इतनी भारी है कि उनके पास चुनौती और प्रतिरोध की फ़ुर्सत नहीं है। अपने प्रतिरोध को शक्ति देने के लिए कबीरदास को एक अलग तरह के ईश्वर, एक अलग अध्यात्म और संभवतः एक अलग मठ की ज़रूरत थी। कबीरदास के लिए इस घात-प्रतिघात के परिणाम बर्दाश्त के बाहर हैं। वे जल्दी से जल्दी एक हल और, सम्भव हो तो, एक नया संगठन खड़ा करना चाहते हैं जो मुल्लाओं और ब्राह्मणों से अलग लोगों को रास्ता दिखा सके।

लेकिन जायसी का प्रस्थान-विन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है—मनुष्य, जैसा कि वह सामान्य ज़िन्दगी में उठता-बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध में वीरता और कायरता दिखलाता है, राज्य स्थापित करता है, छल-कपट, बेईमानी और कमीनापन करता है, सम्प्रदाय स्थापित करता है, बटोर करने के लिए नारे लगाता है—और, इस सबके बाद अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है। अपनी मूल प्रकृति में पद्मावत एक त्रासदी है··· शायद हिन्दुस्तान या संभवतः एशिया की धरती पर लिखा हुआ एकमात्र ग्रन्थ है जो यूनानियों की ट्रैजेडी के काफ़ी निकट है। यह आश्चर्य का विषय हो सकता है कि जायसी को यह दृष्टि कहाँ से मिली। यूनान की ट्रैजेडी से पद्मावत की भिन्नता दर्शायी जा सकती है। स्पष्ट है कि जायसी के सामने यूनान के सोफ़ोक्लीज या यूरीपाइडीज़ नहीं थे और न काव्य-संबन्धी अरस्तू का विवेचन ही था। लेकिन भिन्नताओं के बावजूद जायसी उस मानवीय अनुभूति के ही साक्षी हैं जो सारे वैभव के बाद पृथ्वी को दो मुट्ठी क्षार में बदल देती है और साथ ही यह भी याद दिलाती है कि फूल मर जाता है, लेकिन गन्ध शेष रह जाती है :

केइँ न जगत जस बेचा केइँ न लीन जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरे दुइ बोल ॥

विशाल मानवीय करुणा के इस स्तर पर सारे आध्यात्मिक दर्शन बराबर प्रासंगिक और बराबर अप्रासंगिक हो जाते हैं। इसीलिए क्या तसव्वुफ़ की शब्दावली हो, क्या हठयोग की हो, क्या चारों ओर घटित होता हुआ राज्यों का उत्थान-पतन हो, क्या गाँवों से उठता हुआ बारहमासा हो, क्या कामशास्त्र की झलक देता हुआ रति-वर्णन या नायिका-भेद हो—यह सब जायसी के लिए सहज उपलब्ध भावना के मुहावरे हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के मर्म में प्रविष्ट होना है जिस तक जायसी स्वयं अपने ही मर्म को बार-बार उघार कर पहुँचे थे। जायसी अपने समय की प्रचलित शास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय या अशास्त्रीय शब्दावली का व्यवहार करते हैं, लेकिन इसे केंचुल की तरह छोड़कर बराबर आगे बढ़ जाते हैं।

जायसी जहाँ खड़े थे, वहाँ से वे बहुत आसानी के साथ कबीर की तरह एक वैकल्पिक अध्यात्म की सृष्टि कर सकते थे। उन्हें कबीर की जानकारी है। 'अखरावट' में उनकी चौपाई है—"ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे से मैं हारा।" विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि शैतान को भी हराने वाले जुलाहे से यहाँ जायसी का अभिप्राय कबीरदास से ही है। हो सकता है ऐसा हो। तब जायसी के आध्यात्मिक मार्गद्रष्टाओं की सूची में एक कबीरदास का नाम भी जोड़ना पड़ेगा। परन्तु जायसी कबीरदास की परिणति भी देख चुके थे। सारी तेज़ी और सारा प्रतिरोध उस विशिष्ट समाज में एक नये पंथ को जन्म देकर शेष समाज की धारा से कट जाने के जोखिम में पड़ गया था। एक बार मठ या सम्प्रदाय की जकड़ मज़बूत हो जाने पर प्रतिरोध कर्मकाण्ड में बदल जाता है, ताज़गी ख़त्म हो जाती है और शेष समाज के मर्म पर फिर वही संकीर्ण पपड़ियाँ पड़ने लगती हैं। लोग विचलित नहीं होते, मान लेते हैं कि एक बाबा और हुआ और उसका एक पंथ और हुआ। हिन्दुस्तान में बड़ी क्रान्तिकारी आवाज़ों के सम्प्रदायों और अखाड़ों में बदल जाने की आवृत्ति बार-बार हुई है। आज हम इस इतिहास से अच्छी तरह परिचित हैं और इसके ख़तरे से चिन्तित भी हैं। जायसी की निर्मल दृष्टि मानवीय समस्या को जिस प्रकार देख रही थी, उसमें कबीरदास की परिणति से अपने को बचाना ज़रूरी था। इसीलिए जायसी ने न कोई अखाड़ा बनाया, न चेले बनाये, न बाबागिरी अपनाई, न किसी आध्यात्मिक दर्शन का रूपक बाँधा। उन्होंने अपने लिए कवि, और केवल कवि की भूमिका चुनी जिसका दावा सिर्फ़ इतना ही है कि जिसने उनका मुँह देखा, उसे हँसी आ गयी, लेकिन जब काव्य सुना तो आँसू आ गये। लगता है, जायसी अपने पाठक से सिवा इस एक प्रश्न के और कुछ भी नहीं पूछना चाहते कि आपका अध्यात्म चाहे जैसा हो, ईश्वर चाहे जैसा हो,

कर्मकाण्ड चाहे जैसा हो, लेकिन आपकी आँखों में आँसू आने की क्षमता शेष है या नहीं।

अगर हम एक बार तसव्वुफ़ और सूफ़ी-आन्दोलन की चहारदीवारी को तोड़कर जिसमें स्वयं हमने जायसी को क़ैद कर दिया है, उन्हें बाहर निकाल सकें तो जायसी में बहुत-कुछ ऐसा है जो अपने बेलाग कवि-रूप में हमारे लिए महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार का विषय बन सकता है। जायसी ने वह मुहावरा विकसित किया था जो एकसाथ कई स्तरों पर झंकृत होता है। उनका स्वाभाविक पाठक-वर्ग, अलग धर्मों और संस्कृतियों के बावजूद, बिना किसी दुराव या सांस्कृतिक सीमारेखा के एकसाथ उनके सृजनात्मक संसार में शामिल हो सकता है। जैसा मैंने कहा, कबीरदास भी अपनी प्रतिरोधात्मक वाणी के साथ उसी सन्धि-स्थल पर खड़े हैं। लेकिन कबीरदास के हिन्दू और मुसलमान, दो जमातों में अलग-अलग उनके पाठक हैं। कबीरदास जान-बूझकर दोनों से समान्तर दूरी की नीति बनाते हैं, ताकि उनकी निष्पक्षता पर आँच न आवे। हिन्दू-मुसलमान, दोनों बिना राह पाये भटक रहे हैं, लेकिन दोनों के भटकाव अलग-अलग हैं। जायसी एकमात्र कवि हैं जिनके सामने हिन्दू-मुसलमान अलग-अलग नहीं हैं, वे घुल-मिलकर सामान्य पाठक या श्रोता हो गये हैं। इसीलिए जायसी को न चौकन्नी तटस्थता की जरूरत पड़ती है, न आलोचना और प्रतिरोध के तराज़ू के दोनों पल्लों को बराबर बनाये रखने की चिन्ता व्यापती है। जायसी इस या उस धार्मिक या साम्प्रदायिक गिरोह की समीक्षा नहीं करते, न इस या उस कर्मकाण्ड के सुधार या स्वीकृति की ही उनकी अभिलाषा है—अपने युग से जायसी ने जो बौद्धिक उन्मेष खोज निकाला, वह अनोखा था; उनकी समीक्षा का विषय धर्म नहीं, मनुष्य है।

इतिहास की धारा के प्रवाह में बहुत-सा कीचड़, सेवार, गर्द-गुबार लहरों में उठता-गिरता बहता रहता है। कभी ही कभी ऐसा होता है कि नदी का पानी थोड़ी देर के लिए स्थिर और निर्मल हो जाता है। जिस मिले-जुले समाज की छान-बीन हम कर रहे हैं, उसका पानी इसी तरह जायसी के सामने कुछ देर के लिए स्थिर हो गया और जायसी के माध्यम से हिन्दी साहित्य ने न सिर्फ़ अपने युग की, बल्कि युगों के भीतर कड़कती हुई मानवीय विषाद की तसवीर देखी जिसमें निष्कलंक आदर्श भी हैं और बहुत कड़वे यथार्थ भी हैं, झिलमिलाती यूटोपिया भी है और रिश्वतख़ोरी पर चलते हुए कारागार भी हैं, सत और साका भी है और छल से भरा हुआ विध्वंसकारी राजहठ भी है। इस कवि की निर्मलता इसमें नहीं है कि जायसी सिर्फ़ चुनी हुई निष्कलंक

चीजें देखते हैं, बल्कि इसमें है कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी है, अपनी विविधता के साथ सम्पूर्ण परिदृश्य का अंग हो गया है। इस सम्पूर्ण परिदृश्य को आत्मसात् कर लेने के बाद ही वह गहरा विवेक जन्म लेता है जो मनुष्य की आखिरी पीड़ा को देख सकता है और उसे 'प्रेम की पीर' जैसा नाम दे सकता है, जो सारी कमियों के बावजूद मनुष्य के बैकुण्ठी हो जाने की अनुभूति जागृत कर सकता है। फिर इतिहास की नदी में वेग आया। पानी बह चला और मटमैला हो गया। जायसी की तरह भारतवर्ष और उसके समाज की छवि को फिर कोई न देख सका। सूरदास और तुलसीदास ने निर्मल छवियों को अपने युग से बहुत दूर, अपने अन्तर्मन में अवस्थित त्रेता और द्वापर के मिथकों में देखा। परन्तु इतिहास की नदी में झाँकने पर उन्हें कलियुग की सेवारों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई दिया और इन मिथकों के साथ आये सम्प्रदाय, कर्म-काण्ड, अध्यात्म और दर्शन के विविध वाद, ईश्वरीय अनुग्रह को तरसती हुई आँखें और चारों ओर के निरर्थक बयाबान में एक बूंद अमृत की तलाश।

जायसी न सुधारक हैं, न दार्शनिक और न उनके पास अपने किसी अध्यात्म या दर्शन का संदेश है। तब वे क्या हैं? क्या वे केवल मनोरंजन-कर्ता हैं?

जायसी मनोरंजनकर्ता भी नहीं हैं। वस्तुतः मात्र मनोरंजक साहित्य और मात्र संदेशवाहक साहित्य, दोनों अक्सर एक सिक्के के दो पहलू ही साबित हो जाते हैं। मनोरंजक साहित्य यह देखने के लिए तैयार ही नहीं होता कि ज़िन्दगी को अर्थ से आलोकित करने वाले तत्त्व क्या हैं और कहाँ हैं? अतः ज़िन्दगी का वह बड़ा हिस्सा, जहाँ मानवीय विवेक और भावनाओं के लिए मूलभूत प्रश्न खड़े होते हैं, मनोरंजनकर्ता लेखक के हाथ से छूट जाता है। मात्र संदेशवाहक साहित्य यह मानकर चलता है कि मूलभूत प्रश्न और मूलभूत उत्तर सब प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें शब्दों और मुहावरों में बाँधा जा चुका है और वे सारे प्रश्न जो इस बने-बनाये ढाँचे से बाहर पड़ते हैं, अप्रासंगिक और अनावश्यक हैं, बल्कि प्रश्नकर्ता की कुटिल बुद्धि से ही उपजते हैं। इस कटे-छँटे संदेश का भी परिणाम यही होता है कि ज़िन्दगी का बहुत बड़ा हिस्सा, जहाँ मानवीय विवेक और भावनाओं के लिए वास्तविक चुनौतियाँ होती हैं, लेखक के हाथ से छूट जाता है। छोटे लेखकों के साथ तो यह घटित होता ही है, बड़े लेखकों के साथ भी अन्ततः यह अपर्याप्तता सामने आने लगती है। जितना असंदिग्ध सन्देश होता है, उतनी ही जल्दी वह पुराना और बासी पड़ता जाता है।

मात्र मनोरंजन और मात्र आध्यात्मिक संदेश — इन दो ख़तरों को वेधकर जायसी किस तरह अपनी अनुभूति को अर्थवान् बनाते हैं, यही उनकी सृजनात्मक क्षमता का रहस्य है। जायसी के आसपास की कुछ अन्य रचनाओं से उनके पद्मावत की तुलना करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। जैसा हमने पहले कहा, जायसी ने इतिहास और युग की निर्मल छवि देखी। यह उनकी क्षमता का परिचायक है। लेकिन अपने आसपास की शताब्दियों में वे अकेले कवि हैं जिन्हें इस युग-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह और भी आश्चर्य की बात है। हमने अमीर ख़ुसरो की एक झलक देखी और पाया कि अपनी कल्पना-शक्ति और निज़ामुद्दीन औलिया के पथ-प्रदर्शन के बावजूद ख़ुसरो संपूर्ण समाज का चित्र देखने में असमर्थ हैं। जायसी के पहले के हिन्दी कवि मुल्ला दाऊद का 'चन्दायन' अब काफ़ी कुछ उपलब्ध हो गया है। जायसी के आसपास क़ुतबन ने 'मृगावती' लिखी। कुछ और बाद में मंझन ने शाहजहाँ के काल में 'मधुमालती' लिखी। इन सभी कृतियों को, जो अवधी दोहा-चौपाई में लिखी हुई हैं, प्रेम-कहानियाँ होने के कारण पद्मावत की बिरादरी में शामिल कर लिया जाता है। यह भी जायसी के साथ ज़्यादती है।

दाऊद को तक़ीउद्दीन वाइज़ रब्बानी और बदायूँनी ने ईश्वरीय संकेतों का वाहक होने का प्रमाणपत्र दिया। हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि कविता की समझ इन महानुभावों के पास आज के आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा से अधिक थी या नहीं। लेकिन दाऊद का 'चन्दायन' कुल मिलाकर चमत्कारी घटनाओं की एक शृंखला-मात्र ही ठहरता है। इन चमत्कारों को संगठित करने में भी कल्पना की प्रचुरता कम ही दिखती है। चन्दा को एक बार साँप से कटवा कर मंत्रबल से जिलाने के बाद कवि को सन्तोष नहीं हुआ तो दूसरी बार और शायद तीसरी बार उसे साँप से कटवाया और ज़िन्दा किया। लोरक और चाँदा जिस तरह निरर्थक भ्रमण करते हैं और तरह-तरह के जादू-टोनों और पराक्रमों के बीच से होकर गुज़रते हैं, वह पूरा वृत्तान्त मध्ययुग के 'तोता-मैना' और 'सिंहासन-बत्तीसी' जैसे क़िस्सों से अधिक ऊपर नहीं उठ पाता। क़ुतबन की 'मृगावती' भी इसी तरह चमत्कारों की ऊबड़-खाबड़ शृंखला है। परियाँ और जादू-टोना इस कथा में भी भरपूर हैं और कुल मिलाकर कथा में तत्कालीन रुचि के अनुसार मनोरंजकता का ही निर्वाह किया गया है। यही दशा मंझन की 'मधुमालती' की भी है। मंझन दाऊद और क़ुतबन दोनों से कुछ अधिक समर्थ कवि हैं। लेकिन उनके काव्य में भी घटनाओं और वर्णन की भूमिका केवल कुतूहल के उद्रेक

का ही सृजन करती है और कल्पना का वह अदृश्य फैलाव नहीं उत्पन्न होता जो साधारण और सामान्य घटनाओं को भी समरस अर्थवत्ता में डुबो देता है। बेशक इन कवियों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं था। उन्हें कभी-कभी याद आता है कि उनके पास श्रोताओं से कहने के लिए एक संदेश भी है। बीच-बीच में मनोरंजनकर्ता कवि सन्देशवाहक कवि में बदल जाता है और इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है कि सृजनशीलता के अभाव में मनोरंजन और संदेशवाहन, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

साहित्य में किसी विचारधारा या दार्शनिक सिद्धान्त का वहन करना एक बात है और अपने युग की सम्पूर्ण चिन्तनशीलता में उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात् करना दूसरी बात है। यह आत्मस्थ चिन्तनशीलता गम्भीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है। यदि हम इस प्रकार बौद्धिक सघनता और मात्र दार्शनिक स्थापना या विचारधारा में अन्तर करें तो जायसी की मनःस्थिति को अधिक सन्तोषजनक ढंग से परिभाषित कर सकते हैं। जायसी में दर्शन का अभाव हो, ऐसा नहीं है। विद्वानों ने तसव्वुफ़, वेदान्त, हठयोग, गोरखपंथ, सहजयान—सभी कुछ जायसी में देखा है। ये सारे वाद और मत-मतान्तर जायसी के चारों ओर वातावरण में फैले हुए थे। ऋषेश्वर, संन्यासी, रामजन, मसवासी, ब्रह्मचर्यपंथी, दिगम्बर, सरस्वती-सिद्ध, जोगी, वियोगी, महेसुर, जंगम-जती, देवी-सती-पूजक, सेवरा, खेवरा, बानपरस्ती, सिध, साधक, अवधूत—सभी जायसी के सिंघल द्वीप में आत्माभूत को जलाकर आसन मारे बैठे हुए हैं। जायसी इन सबके प्रति खुले हुए हैं। लेकिन प्रचलित मान्यताओं के इस पुंज का उपयोग जब भी जायसी करते हैं, तो उनका उद्देश्य केवल कथा के विशिष्ट सन्दर्भ को अधिक जागरूक, अधिक संवेद्य, अधिक घनीभूत बनाना ही होता है। पद्मावत की कथा अपनी समरस तन्मयता के साथ आगे बढ़ती जाती है। विचारों या वादों के टुकड़े उससे जुड़कर केवल सम्पूर्ण भावात्मक संश्लेषण को अधिक तीव्र बनाते रहते हैं। दूसरे शब्दों में ठोस मानवीय स्थिति वैचारिक आग्रह में घुलकर अप्रस्तुत नहीं हो जाती, जैसा अन्योक्ति में होता है, बल्कि वैचारिक मुहावरा ठोस परिस्थिति में ही घुल जाता है और ऊपर से सरल दिखने वाली घटनाएँ लहर पर लहर फैलती हुई चिन्तनशीलता में डूबी हुई दिखती हैं। अपने सम्पूर्ण प्रसार में यह चिन्तनशीलता पूरी कथा में एक तरल विषाद-दृष्टि का सृजन करती है जिसमें मानवीय व्यापार के प्रति पीड़ा है, किन्तु अवसाद नहीं है; हल्का वैराग्य है, लेकिन गहरी संसक्ति भी है; तटस्थता है, लेकिन स्पष्ट नैतिक विवेक भी है। यही वह सुगंध है जो फूल के मरने के बाद भी नहीं मरती।

फ़ारसी के प्रसिद्ध सूफ़ी मसनवी-लेखक मौलाना रूम ने अपनी विख्यात 'मसनवीये-मानवी' का आरम्भ इश्क़ की प्रशस्ति से शुरू किया है। काफ़ी दूर तक यह प्रेम-स्तवन चलता है और इस प्रकार एक प्रेम के पंथ की स्थापना होती है। हिन्दी में जायसी के परवर्ती कवि मंझन ने भी अपनी 'मधुमालती' के आरम्भ मे कई कड़वकों में प्रेम की महिमा बखानी है। मंझन ने जायसी से कम सीखा, मौलाना रूम से अधिक। लेकिन मंझन की शेष कहानी प्रेम को उस तीव्रता से संवेद्य नहीं बना पाती, क्योंकि मंझन के पास सिद्धान्त अधिक हैं, भावनात्मक संश्लेष कम। मंझन की दोनों नायिकाओं का विरह नागमती के विरह की भाँति इतना प्रामाणिक नहीं हो पाता कि इतने बड़े दर्शन का बोझ वहन कर सके। इसके विपरीत, जायसी में सन्दर्भ से अलग करके कहीं प्रेम की प्रशस्ति नहीं गायी गयी है। बेशक बीच-बीच में प्रेम-प्रशस्ति की चौपाइयाँ आती हैं, किन्तु उनका औचित्य कथा के सन्दर्भ तक ही सीमित रहता है। वे स्वयं कथा का सन्दर्भ बनने का दावा नहीं करतीं। मंझन का उद्देश्य पंथ के अनुसार प्रेम की महिमा स्थापित करना है, जायसी का उद्देश्य पद्मावती की कथा कहना है जिसमें सिंघल-लोक भी है, चित्तौड़ और दिल्ली का लोक भी है, प्रेम भी है, युद्ध भी है, गहरे अनुभूत होने वाला भावात्मक स्वप्न भी है और अपनी अविराम गति से चलने वाला उद्दण्ड इतिहास भी है। इस मिली-जुली भूमि पर सारे चरित्र—पद्मावती, रतनसेन, हीरामन, राघव चेतन, अलाउद्दीन, गोरा बादल—उठकर खड़े होते हैं और अन्त में विलीन हो जाते हैं। अन्त में कोई मतवाद नहीं, केवल एक सुगन्ध रह जाती है—विषाद, जागरूकता और सूक्ष्म नैतिक विवेक से परिपूरित सुगन्ध। जायसी बड़े कवि हैं, मंझन छोटे कवि हैं।

बौद्धिक सघनता और मात्र विचारधारा की प्रतिबद्धता के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण जायसी से लें। पहला उदाहरण मैं एक ऐसे अवसर से लेता हूँ जिस पर आलोचकों ने अलग से दार्शनिक-व्याख्यात्मक दृष्टि नहीं डाली है। सिंहल द्वीप में हीरामन तोता पद्मावती के पास था। पद्मावती के पिता राजा गंधर्वसेन तोते से नाराज़ हो गये। उसे मार डालने पर उद्यत हो गये। पहले तो वह पद्मावती की अनुनय-विनय के कारण बच गया। लेकिन उसके मन में खटका हो गया। एक दिन वह पिंजरे से उड़ गया। पद्मावती उस समय उसके पास नहीं थी। मानसरोदक गई थी। वहाँ उसे बताया गया कि पिंजरा ख़ाली है। वह तोते को अपने प्राणों के समान चाहती थी। वह बहुत दुःखी हुई। पद्मावती को सखियों ने समझाया। पद्मावती का दुःख और फिर सखियों का समझाना जायसी ने इस प्रकार वर्णित किया है :

सुआ जो उतर देत हा पूंछा । उड़ि गा पिंजर न बोलै छूंछा ॥
रानी सुना सुक्ख सब गएऊ । जनु निसि परी अस्त दिन भएऊ ॥
गहनै गही चांद कै करा । आंसु गगन जनु नखतन्ह भरा ॥
टूटि पालि सरवर बहि लागे । कँवल बूड़ मधुकर उड़ि भागे ॥
एहि बिधि आँसु नखत होइ चुए । गगन छांड़ि सरवर भरि उए ॥
चिहुर चुवहिं मोतिन्ह कै माला । अब संकेति बाँधा चह बाला ॥

उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु ।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु ॥६७॥

चहूँ पास समुझावहिं सखी । कहाँ सो अब पाइअ गा पँखी ॥
जौ लहि पिंजर अहा परेवा । अहा बाँदि कीन्हेसि नित सेवा ॥
तेहि बँदि हुते जौं छूटै पावा । पुनि फिरि बाँद होइ कित आवा ॥
ओइँ उड़ान फर तहिअै खाए । जब भा पंखि पाँख तन पाए ॥
पिंजर जेहि क सौंपि तेहि गएऊ । जो जाकर सो ताकर भएऊ ॥
दस बाटैं जेहि पिंजर माहाँ । कैसें बाँच मँजारी पाहाँ ॥
एइँ धरती अस केतन लीले । तस पेट गाढ़ बहुरि नहिं ढीले ॥

जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न पानि ।
तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि ॥ ६८ ॥

यह उद्धरण जायसी की सामान्य शैली का अच्छा नमूना है। तोते के उड़ जाने के दुःख को पहले हल्के स्पर्श के साथ 'पिंजर न बोलै छूंछा' या 'दहुँ है धरति कि सरग गा' आदि मुहावरों के आधे अभिधात्मक और आधे व्यंजनात्मक प्रयोगों से किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु के संकेत से जोड़ा गया। फिर सखियों के समझाने की भाषा इस मृत्यु-संदर्भ को पूर्णतः खोलकर और उस समय के प्रचलित मुहावरे के अनुसार शरीर से आत्मा के निकल जाने के अभिप्राय के साथ व्यंजित कर देती है।

"तोते ने जिसका पिंजरा था, उसे सौंप दिया। जो जिसका था, उसका हो गया। जिस पिंजरे में दस दरवाजे हैं, उसमें रहने वाला बिल्ली के आक्रमण से कैसे बच सकता है? इस पृथिवी ने ऐसे कितनों को खा डाला। एक बार जो इसके पेट में समा गया, वह बाहर नहीं आया। जहाँ न रात है, न दिन है; जहाँ न हवा पहुँचती है, न कोई गंध ही आती है—ऐसे जंगल में तोता जाकर बस गया है। अब उसे कौन लाकर मिला सकता है?"

इस प्रकरण में अन्योक्ति का पूरा मसाला मौजूद है और यदि हम कुछ चौपाइयों को सन्दर्भ से काट दें, या घटना और परस्पर कथन की नाटकीय स्थिति को आँखों से ओझल हो जाने दें तो हमारी व्याख्या यह हो जायगी कि जायसी के लिए तोते के उड़ जाने की घटना एक अवसर मात्र है और इस बहाने से जायसी अपने युग की प्रचलित सन्त-वाणी को दुहराना चाहते हैं कि यह शरीर नश्वर है, इसमें दस इन्द्रियों के द्वार हैं और तोते की भाँति आत्मा इससे उड़कर कहीं और चली जाती है। अप्रस्तुत आध्यात्मिक अर्थ प्रधान हो जायगा और कथा का ठोस भावात्मक संदर्भ गौण हो जायगा। यह होगी विचारात्मक प्रतिबद्धता।

लेकिन समूचे प्रकरण को ध्यान में रखने पर स्पष्ट लगता है कि अर्थ बराबर कथा के तोते के ही चारों ओर चक्कर काटता है। शरीर और आत्मा का दर्शन प्रधान अर्थ नहीं बनता। यदि किसी उक्ति से दो अर्थों की प्रतीति हो, जैसा यहाँ है, तो इन दो अर्थों के परस्पर सम्बन्ध तीन प्रकार से हो सकते हैं। एक, पहला अथवा वाच्यार्थ गौण हो जाय; और दूसरा, अर्थात् व्यंजित अर्थ प्रधान हो जाय। इस प्रकार प्रस्तुत वस्तु का अर्थ व्यंजित अर्थ में विलीन हो जायगा। यह अवस्था अन्योक्ति की होगी। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ, दोनों ही प्रधान और स्वतन्त्र रूप में अवस्थित रहें। हम इच्छानुसार जो अर्थ चाहें, ले लें। सम्भवतः जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी की शैली को समासोक्ति का नाम दिया, तब उनके मन में यही अवधारणा थी। परन्तु विचार करने पर दो अर्थों की प्रधान और स्वतन्त्र सत्ता बहुत सन्तोषजनक नहीं होगी। अक्सर ऐसा लगेगा कि लेखक प्रस्तुत प्रकरण से बहक कर ख़ाहमख़ाह दर्शन, अध्यात्म अथवा नीति सम्बन्धी कथन में व्यस्त हो गया है। शुक्ल जी ने कहीं-कहीं इसे जायसी का दोष कहकर गिनाया है। तीसरी अवस्था यह हो सकती है कि वाच्यार्थ अथवा प्रस्तुत प्रसंग की प्रमुखता बराबर बनी रहे और दूसरा, अर्थात् अप्रस्तुत या व्यंजित अर्थ थोड़ी देर के लिए अतिरिक्त झलक दिखाकर पहले अर्थ में विलीन हो जाय। मेरी विनम्र धारणा है कि जायसी की शैली में दुहरे अर्थों का परस्पर व्यापार इस तीसरे प्रकार का ही है। इस तीसरी अवस्था में अप्रस्तुत अर्थ के समाहित हो जाने से प्रसंगगत अर्थ में तीव्रता, वैचारिक तरंगाकुलता और भावों के संश्लेष का समायोजन होता है। यही है वह विस्तृत होती हुई झंकार जिसे हम बौद्धिक सघनता कह सकते हैं।

प्रस्तुत उदाहरण को कथा-प्रसंग में देखने पर हम जायसी की कल्पना की

इस वृत्ति को हृदयंगम कर सकते हैं। दूसरे कड़वक की अन्तिम तीन चौपाइयों और दोहे के आध्यात्मिक अर्थ को हमने देखा। परन्तु इसके पहले की चार चौपाइयों में अतिरिक्त अर्थ की व्यंजना है :

चहूँ पास समुझावहिं सखी। कहाँ सो अब पाइअ गा पँखी॥
जौ लहि पिंजर अहा परेवा। अहा बाँदि कीन्हेसि नित सेवा॥
तेहिं बँदि हुते जौं छूटै पावा। पुनि फिरि बाँद होइ कित आवा॥
ओइँ उड़ान फर तहिअैं खाए। जब भा पंखि पाँख तन पाए॥

इन चौपाइयों में प्रथमतः तो पक्षी पर साधारण मानवीय भावना का आरोप किया गया है जो सामान्यतः बन्धन तोड़कर मुक्त हो जाना चाहता है। बेशक पिंजरा और बन्धन की उक्ति हमें आगे आने वाले आध्यत्मिक अर्थ के लिए भी तैयार करती है। लेकिन 'उड़ान का फल उसी दिन तोते ने खा लिया जब उसके शरीर में पंख उगे' यह उक्ति अर्थ के लौकिक एवं मानवीय पक्ष को पूरी संवेदना से व्यक्त करती है। आगे आने वाली आध्यात्मिक ध्वनि अर्थ पर अंकुश रखती है। पाठक के भावात्मक उद्रेक को यह पूरा वर्णन विपरीत प्रतीत होती हुई दिशाओं में संचालित करता है। जब पद्मावती के दुःख और आँसुओं का वर्णन हुआ तो हमारी सह-अनुभूति पद्मावती के साथ जागृत की गयी। सखियों के समझाने के प्रकरण में वह सह-अनुभूति तोते के पक्ष में जागृत की गयी, जैसे ठीक ही हुआ कि तोता उड़ गया—मुक्त आकाश में उड़ान के फल खाने वाला पक्षी कब तक पिंजरे में बँधा रहता ? इस उद्रेक के तत्काल बाद धरती द्वारा सभी प्रियजनों को खा जाने और तोते के कालातीत लोक में चले जाने की उक्ति हमारी सह-अनुभूति को फिर उन लोगों की ओर वापस भेजती है जिनका प्रिय पात्र हमेशा के लिए बिछुड़ गया है।

फिर भी ये विपरीत भाव, व्यापक समूचे अर्थ में समरस होकर, विलीन हो जाते हैं। उनकी विपरीतता विलुप्त हो जाती है क्योंकि प्रकरण का प्रतिपाद्य अर्थ है सखियों का समझाना कि अब तोते को तलाश करने से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा।

लेकिन यह प्रतिपाद्य अर्थ भी कथा-प्रबन्ध की धारा के प्रमुख अर्थ में अन्ततः विलीन हो जाता है। दोनों दोहों को साथ साथ देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा। पहले दोहे में पद्मावती सखियों से कहती है :

उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु॥

और सखियाँ उत्तर में कहती हैं :

> जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न पानि ।
> तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि ।।

ये दोनों दोहे वस्तुतः लोकगीतों की परिचित प्रश्नोत्तर-शैली में गुंजरित हैं । लोकगीतों की प्रश्नोत्तर-शैली वस्तुतः न प्रश्न पूछती है, न उत्तर द्वारा प्रश्न का समाधान करती है । वह केवल भावों को संगीत-तत्त्व प्रदान करके अधिक मर्मस्पर्शी बनाती है । इस संगीत-तत्त्व की तरलता के लिए सुआ की जगह 'सुअटा' और बीच में 'रे' का प्रयोग भी उपयुक्त है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नागमती के विरह-वर्णन में 'पिय सन कहहु सँदेसड़ा' में 'ड़ा' के प्रयोग के औचित्य को इसी भाँति परिलक्षित किया है । 'ऐसा शब्द उस दशा में मुंह से निकलता है जब हृदय प्रेम, माधुर्य, अल्पता, तुच्छता आदि में से कोई भाव लिये हुए होता है ।' 'सुअटा' में प्रेम और स्नेह जनित अल्पता, दोनों भावों का समावेश है ।

इस प्रकार जब पद्मावती सखियों से कहती कि तोते को खोजो—तो अभिप्राय यह नहीं है कि सचमुच खोजने के लिए दूत दौड़ाये जायँ । दोहे का यह वाच्यार्थ मूलतः पद्मावती के दुःख की चरम अवस्था को ही व्यंजित करता है । इसी प्रकार जब सखियाँ पद्मावती को समझाती हैं कि अब पक्षी कहाँ मिलेगा, वह तो बन्धन तोड़कर अपने स्वभाव के अनुसार मुक्त हो गया अथवा शरीर से निकलने वाली आत्मा की भाँति अदृष्ट लोक में चला गया, तो वास्तविक अर्थ मात्र पद्मावती को विपरीत तर्कों द्वारा समझाना नहीं होता । कथा-प्रबन्ध की प्रमुख धारा के अनुसार तोते के उड़ जाने की घटना अपने आप में मर्मस्पर्शी, मूल्यवान् और प्रस्तुत प्रकरण में अन्तिम बनकर सजीव हो जाती है । सारा कथोपकथन लौकिक अथवा पारलौकिक संकेत, लोकगीतों की प्रतिध्वनि सब कुछ इसी सजीवता के सर्जनात्मक उपादान के रूप में तरंगित होता है । यही है बौद्धिक सघनता । इस सघनता को चित्रात्मक अथवा भावात्मक न कहकर बौद्धिक इसलिए कहा गया कि विचारों और भावों के सम्मिलित उद्रेक द्वारा घटना में मूल्यवत्ता का आयाम जुड़ता है ।

कथा-प्रबन्ध में इस कथोपकथन के बाद जायसी इस प्रसंग को यहीं छोड़ देते हैं । हमें यह नहीं बताया जाता कि सखियों के इस समझाने का क्या प्रभाव हुआ और पद्मावती ने क्या कहा । इसकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि व्यंजित अर्थ द्वारा इस बौद्धिक अर्थ की सिद्धि हो चुकती है कि तोते के उड जाने में एक अन्तिमता है और इस दिशा में कौतूहल का कोई

प्रयोजन नहीं है। आगे की कथा 'तोते के साथ क्या हुआ' इस ओर जुड़ जाती है। वस्तुतः आगे के सौ से अधिक कड़वकों तक हमारी भेंट पद्मावती से नहीं होती, क्योंकि कथा का केन्द्र रतनसेन हो जाता है।

इस विश्लेषण के परिणामों को ध्यान में रखकर हम अन्य अवसरों पर भी दृष्टिपात कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम उस प्रसिद्ध प्रकरण का परीक्षण करें जहाँ सिद्ध-गोटिका देते समय महादेव रतनसेन को सिंहलगढ़ का रहस्य समझाते हैं। जायसी के शब्दों में :

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। परखि देखु तैं ओहि की छाया ॥
पाइअ नाहिं जूझि हठ कीन्हे। जेइँ पावा तेइँ आपुहि चीन्हे ॥
नौ पँवरी तेहि गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा ॥
दसव दुआर गुपुत एक नाँकी। अगम चढ़ाव बाट सुठ बाँकी ॥
भेदी कोइ जाइ ओहि घाटी। जौं लै भेद चढ़ै होइ चाँटी ॥
गढ़ तर सुरँग कुंड अवगाहा। तेहि महँ पंथ कहौं तोहि पाहाँ ॥
चोरि पैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंति जेउँ लाव जुआरी ॥

जस मरजिया समुँद धँसि मारै हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेहि ओहि सरग दुआरी औ चढ़ु सिंहल दीप ॥ २१५ ॥

दसवँ दुआर तारु का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ॥
जाइ सो जाइ साँस मन वंदी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी ॥
तूँ मन नाँथु मारि कै स्वाँसा। जौं पै मरहि आपुहि करु नाँसा ॥
परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता ॥
हौं हौं कहत मंत सब कोई। जौं तूँ नाहिं आहि सब सोई ॥
जियतहि जौ रे मरै एक बारा। पुनि कत मीचु को मारै पारा ॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब सो आपु अकेला ॥

आपुहि मीचु जियन पुनि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आप करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ ॥ २१६ ॥

सिद्धि गोटिका राजैं पावा। औ भै सिद्धि गनेस मनावा ॥
जब संकर सिधि दीन्ह गोटेका। परी हूल जोगिन्ह गढ़ छेंका ॥

शुक्ल जी समेत सभी विद्वानों और व्याख्याकारों का ध्यान इन पंक्तियों की ओर गया है। इसमें सन्देह नहीं कि गढ़ के इस वर्णन में तत्कालीन हठयोगी साधनाओं की शब्दावली का खुलकर प्रयोग हुआ है। इन पंक्तियों

को अक्सर जायसी की आध्यात्मिक मान्यताओं के स्पष्टीकरण के रूप में व्याख्यायित किया जाता है और इस अतिरिक्त अर्थ के सहारे पूरे पद्मावत के सूफ़ी ग्रन्थ होने का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है।

इसके विपरीत, इन पंक्तियों का अर्थ कथा-प्रबन्ध में कुछ इस प्रकार का होगा : "पद्मावती के चले जाने के बाद राजा अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगा। उसकी विरहाग्नि की ज्वालाएँ सकल सृष्टि को जलाने लगीं। रतनसेन व्याकुल होकर चिता में चढ़कर जल मरने को उद्यत हुआ। उस समय शंकर-पार्वती उसकी परीक्षा लेने आये। पार्वती के अप्सरा-रूप पर राजा मोहित नहीं हुआ। इस प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने शंकर को सिद्ध पुरुष के रूप में पहचाना और रोता हुआ पैरों पर गिर पड़ा। शंकर ने उसे सिद्ध-गुटिका दी और समझाया कि निराश होकर आत्महत्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। राजा मन में हिम्मत बाँधे। न मृत्यु का भय करे, न और लोग क्या कहेंगे या करेंगे, इसकी चिन्ता करे। मन को एकाग्र करके, मरजिया बनकर आगे बढ़े, अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी। गढ़ कठिन अवश्य है, लेकिन जान पर खेलने वाले के लिए दुर्भेद्य नहीं है। जिस प्रकार हठयोगी अपनी काया के चक्रों को भेद कर ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार यह गढ़ भी भेद्य है। शंकर की यह बात सुन कर राजा ने निराशा छोड़ दी और अन्य योगियों के साथ गढ़ को घेर लिया।"

ध्यान देने पर हम पायेंगे कि आध्यात्मिक रूपक के साथ कथा-प्रबन्ध का यह अर्थ बराबर प्रधान बना रहता है और इस नाटकीय बिम्ब के सहारे जायसी केवल उस आन्तरिक एकाग्रता और दृढ़ संकल्प को ही स्थापित करते हैं जिसने निराश राजा को प्रतीक्षा और रोना-धोना छुड़ाकर कुछ कर गुज़रने या जान दे देने पर उतारू किया। सिद्ध-गोटिका यद्यपि किसी चमत्कारी वस्तु की भाँति शंकर के हाथ से रतनसेन के हाथ में पहुँचाई गयी है, परन्तु आगे की घटनाओं में इस चमत्कारी वस्तु की कोई भूमिका नहीं दिखती। सुरंग से चढ़ने और आधे रास्ते में पकड़े जाने और शूली तक पहुँचाये जाने पर भी सिद्ध-गोटिका से कोई कमाल दिखाने को नहीं कहा जाता। वस्तुतः सिद्ध-गोटिका उस आन्तरिक निर्णय का ही दूसरा नाम है जिसके सहारे राजा अपनी अन्तिम छलाँग लगाता है।

गहरे अर्थ में पूरा सिंहल द्वीप अंगरेज़ी शब्द 'यूटोपिया' द्वारा अभिव्यंजित उस आन्तरिक लोक का ही बिम्बात्मक बाध्यीकरण है जो जायसी के मूल्यबोध का महत्त्वपूर्ण अंग है। यूटोपिया को हम क्या नाम दें? मैं उसे जायसी से ही

शब्द उधार लेकर 'सिंहल-लोक' कहूँगा । एक अर्थ में यह यूटोपिया ही है जो सूरदास के अन्तस् से द्वापर की ब्रजभूमि बनकर प्रकट होती है और तुलसी-दास के अन्तस् में त्रेता के अवध की भाँति अवस्थित है । परन्तु सूरदास और तुलसीदास की यूटोपिया का आधार सामान्य समाज में पौराणिक विश्वास के रूप में पहले से ही उपस्थित है । अतः इस यूटोपिया की वास्तविकता अथवा उसका बाह्य स्वरूप इन कवियों के निजी संसार से अधिक है । पौराणिक विश्वासों का साधारणीकरण ब्रजभूमि या अवध को सचमुच इन कवियों से बाहर वस्तुपरकता प्रदान करता है और सूरदास या तुलसीदास की कथनात्मक वृत्ति इस कृष्णमय अथवा राममय यूटोपिया को आत्मसात् करने की है । इससे भिन्न जायसी के सिंहल-लोक की कोई पौराणिक अथवा साधारणीकृत मिथक-सरीखी सत्ता नहीं है । सिंहल-लोक सौ फ़ीसदी कवि द्वारा निर्मित आन्तरिक दृष्टिकोण का वस्तु-सदृश प्रक्षेपण है । अधिक से अधिक कवि के मानस से बाहर उसका अस्तित्व उन अर्द्ध-जागरूक कविसमयों या लोकगाथाओं में है जिन्हें परिश्रम से खोजकर शोधकर्ताओं और विद्वानों ने कहीं-कहीं परि-लक्षित किया है । इसीलिए जायसी का सिंहल-लोक निरन्तर आधे स्वप्न, आधी वास्तविकता की तरह आभासित होता है । पद्मावत का लेखक कवि है, भक्त अथवा साधक नहीं है और न उसे अपनी यूटोपिया के लिए किसी श्रद्धा-विश्वास-समन्वित पौराणिकता का ही आश्रय उपलब्ध है ।

पौराणिकता मानवीय कल्पना की वह अवस्था है जहाँ आन्तरिक स्वप्न की देशकाल-विहीन यथार्थता देशकाल-निबद्ध जगत् में घटित इतिहास को पूरी तरह भेद कर युगबद्ध हो जाती है । दोनों का अन्तर मिट जाता है । परन्तु जायसी का सिंहल-लोक इस प्रकार का नहीं है—वह इतिहास को भेद कर उससे एकात्म नहीं हो पाता । वस्तुतः जायसी की समस्या मूलतः यही है कि जहाँ दो तरह की पौराणिकताएँ एक-दूसरे का निषेध कर के केवल विध्वंस और कट्टरपन को जन्म देती हों, जहाँ इतिहास आन्तरिकता के अभाव में वीराने में सुलतान खड़े करता हो, वहाँ बिना पौराणिकता का आश्रय लिये काल और कालातीत, इतिहास और इतिहासातीत को कैसे जोड़ा जाय । यही समस्या कबीर-दास के सामने थी जिसने उन्हें अक्खड़, प्रतिरोधी और वैकल्पिक स्वर दिया । यही समस्या जायसी को वह 'ट्रैजिक विज़न' प्रदान करती है जिसे हमने पहले विषाद-दृष्टि कहा । यह विषाद-दृष्टि इतिहास और इतिहासातीत के छटपटाते हुए सम्मिलन की भावभूमि किस प्रकार पद्मावत में चरितार्थ हुई है, इसको प्रत्यक्ष करने के लिए पद्मावत की पूरी बनावट के विश्लेषण की आवश्यकता है । आगे

हम यह विश्लेषण करेंगे। सम्प्रति इस दृष्टि को ध्यान में रखकर ही हम ऊपर से आध्यात्मिक प्रतीत होने वाली शब्दावली के अर्थ को देखें जिसका प्रयोग शंकर ने गढ़ के वर्णन के लिए किया है।

अगर हम उन चौपाइयों के आध्यात्मिक अर्थ को जायसी की धार्मिक या आध्यात्मिक मान्यता की स्वीकृति के रूप में देखें तो तत्काल कई अड़चनें पैदा होती हैं। हठयोग या उससे मिलती-जुलती शुद्ध साधना क्या जायसी की मुख्य स्थापना है? आरम्भ में ही शंकर कहते हैं कि हठ कर के गढ़ को नहीं पाया जा सकता। अपने को पहचान कर ही उसे पाया जा सकता है। यहाँ हठयोग का निषेध है। हठयोग का निषेध जायसी ने अन्यत्र भी किया है। शंकर कहते हैं कि जिस प्रकार चोर सेंध में चुपचाप घुसता है, उसी तरह तुम स्वर्ग का द्वार खोज लो और चुपचाप चढ़ जाओ। प्रकट में लोकाचार की बातें करो, मन उसी पर स्थिर रखो जिसके रंग में रँग गये हो। परन्तु इस पिपीलिका-योग का तत्काल निषेध होता है क्योंकि शंकर के हटते ही रतनसेन सब लोकाचार त्याग कर सरेआम गढ़ को घेर लेता है, मुख्य दरवाज़े से घुसने की कोशिश करता है। दरवाज़े फटाफट बन्द होने लगते हैं और तमाशा देखने के लिए औरतें छज्जों पर आ जाती हैं। जायसी ने इस हरकत पर एक टिप्पणी भी की है:

'गुपुत जो रहै चोर सो साँचा। परगट होइ जीव नहिं बाँचा।'

यह पिपीलिका-योग नहीं है, खँजड़ी की चोट, घेराव है। फिर अपने को पहचानने वाली भाषा आत्मज्ञान अथवा राजयोग की भाषा है। जायसी ने अन्यत्र कहा है:

मुहमद बाईं दिसि तजे एक सरवन एक आँखि।
जब ते दाहिन होइ मिला बोलु पपीहा पाँखि॥

यह दाहिने होकर प्रिय से मिलना क्या है?—हठयोग या राजयोग या इनसे भी अलग कोई तीसरी चीज़?

शंकर बोलते-बोलते यहाँ तक कह जाते हैं:

आपुहि मीचु जियन पुनि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ॥

यहाँ तक आते-आते अध्यात्म शुद्ध वेदान्त-जैसा हो जाता है। इसमें से कौन-सा मार्ग जायसी का अभिप्रेत है?

इन अड़चनों के सामने डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस प्रकार व्याख्या की है : "योग के दो मुख्य रूप जायसी के समय में मान्य थे—एक हठयोग का चक्रभेदन काया जिसे पिपीलक-योग कहते थे; दूसरा, राजयोग का आत्मज्ञान था जिसे विहंग-योग कहते थे।......इस छंद में जायसी ने अपनी गुह्य साधना के और विस्तारों का निरूपण किया है और खुलकर किया है। उसमें पुनः जीवन में ही एक बार मरण की आवश्यकता का प्रतिपादन अमरत्व और दिव्य ज्योति की प्राप्ति के लिए किया है। इस छन्द की अन्तिम पंक्तियों में जायसी का आत्मवाद बहुत मुखर है जो इस्लाम से बिल्कुल भिन्न है।" डॉ० गुप्त का यह विवेचन जिज्ञासा का शमन नहीं करता, बल्कि और भी प्रश्न खड़े कर देता है। आत्मवाद की प्रतिष्ठापना को जायसी की आत्म-स्वीकृति और पद्मावत का प्रमुख सन्देश मान लेने पर तो जायसी न सिर्फ़ सीधे-सादे मुसलमान नहीं रह जाते, बल्कि एक तरफ़ पद्मावत और दूसरी तरफ़ 'अख-रावट' और 'आख़िरी कलाम' में ऐसी कशमकश पैदा हो जाती है जिसका हल नहीं निकलता। जायसी ने सिंहल द्वीप के वर्णन में साधुओं और योगियों की एक चलताऊ फ़ेहरिस्त गिनाई है :

गढ़ मंडप चहुँ पास सँवारे। जपा तपा सब आसन मारे ॥
कोइ रिखेस्वर कोइ सन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी ॥
कोइ ब्रह्मचर्ज पँथ लागे। कोइ दिगंबर आछहिं नाँगे ॥
कोइ सरसुती सिद्धि कोइ जोगी। कोइ निरास पँथ बैठ बियोगी ॥
कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देबी सती ॥

सेवरा खेवरा बानपरस्ती सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब जारि आतमा भूत ॥२०॥

यह सूची पूरी नहीं है। इसके अन्त में एक 'इत्यादि-इत्यादि' की ध्वनि छिपी हुई है। इस सूची में इन भाँति-भाँति के 'जपा-तपा' लोगों के लिए स्वीकृति या प्रतिबद्धता नहीं है और न प्रतिरोध या उपहास की ही भावना है। केवल एक तटस्थ उदारता है। यह तटस्थ उदारता ही जायसी की वास्त-विक दृष्टि है। महादेव ने जो बातें रतनसेन को बताई, उन्हें भी जायसी की इसी तटस्थ उदारता के संदर्भ में देखने पर जिन अड़चनों को हमने देखा, वे समाहित हो जायेंगी। किसी एक तथाकथित गुह्य साधना को जायसी के मत्थे मढ़ देना जायसी की आन्तरिकता को एक ऐसे खूंटे से बाँध देना होगा जिससे बँधने के लिए जायसी तैयार नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। हमने देखा कि घटना-क्रम में महादेव की सलाह के बिल्कुल विरुद्ध रतनसेन सीधे दरवाज़े से गढ़ में घुसने की चेष्टा करता है और प्रकट लोकाचार को छोड़ देता है। लेकिन आगे चलकर जब रतनसेन पकड़ लिया जाता है और यह प्रश्न खड़ा होता है कि पद्मावती से रतनसेन का विवाह कर दिया तो जायसी ऐसा क्यों करते हैं कि पहले यह प्रमाणित हो जाय कि रतनसेन वस्तुतः योगी नहीं राजा ही है। अन्तिम मिलन में यह योगी होना ही बाधा का कारण बनता है। भाट दसौंधी और हीरामन तोता यत्न करके राजा गंधर्वसेन को समझाते हैं कि रतनसेन राजा ही है। आख़िरकार महादेव की सलाह या उनकी सिद्ध-गोटिका नहीं, बल्कि चित्तौड़ का राज्य और 'चौहान-वंश' ही काम आता है। इतना ही नहीं, विवाह के बाद जब अकेले शयनागार में पद्मावती और रतनसेन का मिलन होता है तो पद्मावती फिर रतनसेन के योगी होने और खुद के राजकुमारी होने को लेकर रतनसेन की खासी चुट-कियाँ लेती है। यह सब कहना जायसी के लिए क्यों ज़रूरी है? संयोग-श्रृंगार, जो शुद्ध साधना की चरम परिणति होना चाहिए था, राजा के अनुरूप युद्धस्थल के मुहावरे में क्यों वर्णित है? इन ऊपर से विरोधी लगने वाले प्रकरणों का समाहार हम जायसी की अन्तर्दृष्टि को समझने के लिए किस प्रकार करें? समाहार तो है— क्योंकि जायसी की भंगिमा ऐसी है कि इन छोटी भँवरियों के बावजूद कथाप्रवाह अपनी सरल अनवरुद्ध गति से चलता है, कहीं धक्का नहीं लगता, कहीं दिमाग़ चक्कर में नहीं पड़ता। कारण यही है कि भाषा का प्रयोग जिस स्तर पर जायसी ने किया है, उसमें यह सारी शब्दावली आन्तरिकता के सामान्य मुहावरे भर का प्रयोजन सिद्ध करती है, किसी एक अथवा अनेक गुह्य सिद्धान्तों का प्रतिबद्ध प्रतिपादन नहीं करती। इसीलिए 'अपने को पहचानना' या 'बस एक ही रह जाता है, दूसरा कोई नहीं' इस तरह के वाक्यांशों को यदि हम आन्तरिक अखण्डता और भावनात्मक उत्कर्ष से अधिक किसी तरह के मतवाद की भाँति देखेंगे तो हम वही ग़लती करेंगे जिस तरह अचेतन-अवचेतन की शब्दावली देखकर लोगों ने इलाचन्द्र जोशी को फ्रायडवादी, अज्ञेय को मनोविश्लेषणवादी और ग़रीब-अमीर की खाईं का ज़िक्र देखकर प्रेमचन्द को मार्क्सवादी चौखटे में कस देने का प्रयास किया।

जायसी के युग में मनुष्य की आन्तरिकता को व्यंजित करने वाले यही बौद्धिक मुहावरे थे। उन्होंने इन शब्दों का पारिभाषिक नहीं, भावात्मक उपयोग किया। इसीलिए इन शब्दों का अर्थवृत्त विशिष्ट अथवा साम्प्रदायिक

नहीं बनता। वस्तुतः पारिभाषिक शब्दावली के तो जायसी विरुद्ध खड़े हैं, वरना कुरान को पुरान या पाढ़ित, अल्लाह को गुसाईं, खालिकुल मुतलक़ को 'आदि एक करतार' कहने की और सृष्टि में चौदह भुवनों की चर्चा करने की आवश्यकता क्यों पड़ती ?

बौद्धिक सघनता और वैचारिक प्रतिबद्धता के अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमारे सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न स्वयं पद्मावती की व्याख्या का है जिस पर अब तक के सभी आलोचकों और विद्वानों की दृष्टि रही है। आचार्य शुक्ल ने पद्मावती को भागवत-प्रतीक के रूप में देखा। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पद्मावती की इस आध्यात्मिक भूमिका के साथ विभिन्न स्थलों से जायसी की चौपाइयों की व्याख्या करके पद्मावती के पारस-रूप, जगव्यापी प्रतिबिम्बवाद, विभिन्न बाधाओं के पार चमकने वाले परम लक्ष्य की भाँति व्याख्यायित किया। आधुनिक आलोचना में पद्मावत को सूफ़ी ग्रन्थ बनाने में इस व्याख्या का बहुत बड़ा हाथ है। लेकिन यह सारी व्याख्याएँ, सारा प्रतिबिम्बवाद या प्रतीकवाद आधी कहानी या सिंहल-लोक वाली पद्मावती पर ही लागू होता है। बाद वाली पद्मावती इस विश्व-ज्योति की व्याख्या में नहीं समाती। क्यों ?

अब तक के विवेचन से यदि हमने जायसी की मूल सर्जनात्मक वृत्ति तक पहुँचने में कुछ भी उपयोगी परिणाम निकाले हैं तो अब तक के सूफ़ीवादी व्याख्याकारों को विनयपूर्वक प्रणाम करके हम जायसी की मानवीय उद्भावनाओं के मध्य में ही पद्मावती को रखना उचित समझेंगे। पद्मावती को आध्यात्मिक प्रतीक का दर्जा देना न पूरे कथा-प्रबन्ध का अभीष्ट है, न जायसी की वास्तविक तलाश।

अब हम अपनी उधेड़-बुन के उस केन्द्र में पहुँचते हैं जहाँ पूरी कथा की बनावट और जायसी की शिल्प-विधि के विश्लेषण की आवश्यकता है। वस्तुतः हमारी खोज पद्मावती की नहीं, पद्मावत की होनी चाहिए। अब तक की आलोचना में पद्मावती की खोज ने आलोचकों को पद्मावत की खोज से काफ़ी हद तक विमुख ही रखा है।

६

पद्मावत का विश्लेषण

पद्मावत को देखते समय हम रतनसेन का आत्यन्तिक प्रेम और सिंघल द्वीप पहुँच कर पद्मावती को प्राप्त करना, केवल इतनी ही कहानी न देखें, बल्कि समूची कथा को देखें। इस पर जायसी ने प्रबन्ध के आरम्भ में भी ज़ोर दिया है और अन्त में भी। आरम्भ में जायसी ने कथा का सार इन शब्दों में बताया है :

सन नौं से सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कबि कहै॥
सिंघल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनी॥
अलाउदीं ढिल्ली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरुकहिं भई लराई॥
आदि अंत जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥

इस वर्णन में वस्तुतः कथा के आरंभिक अंश को केवल एक चौपाई में कह दिया गया है कि सिंघल द्वीप में एक पद्मिनी रानी हुई। रतनसेन उसे चित्तौड़ लाया। कथा के उत्तरार्द्ध के लिए तीन चौपाइयों का प्रयोग किया गया है और अलाउद्दीन के साथ राघव चेतन को भी महत्त्व दिया गया। किस प्रकार हिन्दुओं और तुर्कों में लड़ाई हुई, यह कवि की कथा का महत्त्वपूर्ण अभिप्राय है। फिर ज़ोर देकर कहा गया है कि आदि से अन्त तक जितनी कथा है, वह समूची कथा कहना कवि का उद्देश्य है।

ग्रन्थ के अन्त में जायसी ने फिर कहा है :

मुहमद यहि कबि जोरि सुनावा। सुना सो पेम पीर गा पावा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई॥
औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा। कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा॥
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहँ राघौ जेइँ कीन्ह बखानू॥
कहँ सुरूप पदुमावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी॥
धनि सो पुरुख जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू॥

केइँ न जगत जस बेंचा केइँ न लीन्ह जस मोल ।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ।।

इस उपसंहार में जायसी ने कई बातें कही हैं । इस कड़वक की पहली तीन चौपाइयों में प्रेम की पीर का उल्लेख है । इन चौपाइयों पर कुछ दृष्टि हम पहले डाल चुके हैं और हमने पाया कि प्रेम की अनुभूति पाठक, लेखक तथा पात्रों, तीनों में संचरित होती हुई व्यंजित की गयी है । लेकिन प्रेम के अतिरिक्त उपसंहार का अन्तिम आग्रह यश पर है । यह यश ही है जो पुरुष को धन्य बनाता है और फूल के मर जाने के बाद सुगन्ध की तरह अमर रहता है । इस यश को न कोई बेच सकता है, न ख़रीद सकता है । प्रेम-पीर से कुछ अधिक ज़ोर यश पर देकर जायसी ने कथा की महत्त्वपूर्ण प्रकृति को रेखांकित किया है । प्रेम और यश के बीच में जायसी ने फिर कथासार दिया है । एक तरफ़ रतनसेन राजा हैं और उनके साथ हीरामन तोता है । कथा की दूसरी भुजा पर अलाउद्दीन सुलतान है और उसके साथ राघवचेतन है । जिस तरह हीरामन रतनसेन से पद्मिमी का बखान करता है, उसी तरह राघवचेतन अलाउद्दीन से बखान करता है । कथा की इन दोनों भुजाओं के बीच में सुरूप पद्मावति रानी अवस्थित है । साथ ही, जायसी का यह भी कथन है कि उन्होंने इस कथा को जोड़कर सुनाया ।

जायसी के कथा-प्रवेश और उपसंहार की इन रूपरेखाओं से हमें काव्य के विषय में कवि के चार संकेत मिलते हैं । पहला संकेत यह है कि पद्मावत की कथा आदि से अन्त तक जुड़ी हुई है । पूरी कथा एक इकाई है, उसे खण्डित करके देखने पर हम उसका वास्तविक आस्वादन नहीं कर सकेंगे, कथा के असली अर्थ को नहीं पहचान सकेंगे । यों भी आलोचक और व्याख्याकार का यह कर्तव्य होता है कि वह काव्य-कृति को संपूर्ण इकाई के रूप में आदि से अन्त तक ध्यान में रखे । और जब कवि बार-बार इस पर जोर दे रहा हो, तब तो यह कर्तव्य और भी ज़रूरी हो जाता है । फिर भी आश्चर्य की बात है कि पद्मावत को लोगों ने खण्डित करके ही देखा । जिन्हें तसव्वुफ़ चाहिए था, उन्होंने उत्तरार्द्ध को भुला दिया । अपनी दृष्टि सिंघल लोक पर जमा दी । जिन्हें चित्तौड़ की वीरगाथा का रोमांच चाहिए था, उनके लिए सिंघल लोक लम्बी और अनावश्यक भूमिका मात्र रह गया । उन्होंने पद्मावत को इतिहास-मात्र ही समझा । इस विचित्र परिणति पर हम पहले विचार कर चुके हैं । क्या जायसी को अपनी कृति के दो टुकड़े हो जाने का पूर्वाभास था जो उन्होंने चेतावनी देने की जरूरत समझी ? जो भी हो, आज तो हम जायसी की चेतावनी को ज़रूर ध्यान में रखें ।

दूसरा संकेत जायसी ने यह दिया है कि कथा की बनावट में दो भुजाओं वाला एक सन्तुलन है। इस सन्तुलन के सहारे कथा पूर्णता को प्राप्त करती है, एक इकाई बनती है।

तीसरा संकेत यह है कि कथा के भावात्मक अर्थ में केवल प्रेम की पीर ही नहीं है, युद्ध भी है। पद्मावत केवल प्रेम की कहानी नहीं है, प्रेम और युद्ध की मिली-जुली कहानी है। आश्चर्य की बात यह है कि इस संकेत के बावजूद भी 'प्रेमाख्यानक काव्य' जैसा एक नाम गढ़ लिया गया और उसे पद्मावत के ऊपर चपका दिया गया। जायसी के अनुसार कथा का युद्ध सिर्फ़ रतनसेन और अलाउद्दीन के बीच का युद्ध नहीं है, वह हिन्दुओं और तुर्कों के बीच की लड़ाई है। यह युद्ध वैसा भी नहीं है कि मुख्य प्रेमाख्यान के बीच नायक के पराक्रम के लिए एक मंज़िल भर हो, जैसा मौलाना दाऊद के 'चन्दायन' में लोरिक के साथ होता है। पद्मावत का युद्ध कथा का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अंग है जो जायसी के कथ्य को ही एक नया संस्कार देता है।

चौथा संकेत यह है कि यश और कीर्ति वाला पुरुष धन्य है। वही शेष रहता है।

यह आवश्यक नहीं है कि किसी कृति का विश्लेषण करने के लिए, या उसका आस्वादन करने के लिए हम कृतिकार के दिये हुए संकेतों को मान लें, या ज्यों का त्यों मान लें। लेकिन कृतिकार के संकेतों को, और ख़ास कर जब वह जायसी-जैसा कृतिकार हो, पूरा सम्मान देना हमारा प्रथम कर्तव्य है। जब तक बहुत गम्भीर दृष्टिभेद या अन्तर्विरोध न उपस्थित हो, कृतिकार के दिये हुए संकेतों की उपेक्षा करना ख़तरनाक है।

कथा के दो बोलते हुए अर्द्धांश आलोचकों से छिपे नहीं रहे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत पहले ही कहा कि पद्मावत की कथा दो भागों में स्वभावतः विभाजित है। पहला हिस्सा उनके अनुसार कल्पित है और दूसरा हिस्सा इतिहास पर आधारित है। दोनों हिस्सों की प्रकृति के निरूपण के लिए कल्पना-बनाम-इतिहास, इस प्रकार की शब्दावली कहाँ तक ठीक है, यह विचारणीय है। स्वयं शुक्ल जी ने इस विभाजन को रेखांकित करने के बाद अपने निबन्ध का सारा विश्लेषण प्रथमार्द्ध पर ही केन्द्रित कर दिया। दूसरे हिस्से को उन्होंने अपनी सूक्ष्म आलोचक-दृष्टि का विषय नहीं बनाया — और न उन्होंने इस प्रश्न को ही उठाना आवश्यक समझा कि दोनों हिस्सों में कोई आन्तरिक सम्बन्ध बनता है या नहीं; या अगर कोई गहरा सम्बन्ध नहीं बनता तो पद्मावत वस्तुतः एक काव्य रह जाता है, या दो काव्यों का एक जुट है जिन्हें

यान्त्रिक ढंग से एकसाथ नत्थी कर दिया गया है। यह प्रश्न बना रहता है कि दोनों हिस्सों के बीच शिल्पगत एकता या उससे भी आगे अर्थगत एकता किस प्रकार घटित होती है? सम्भवतः शुक्ल जी ने सोचा हो कि इतिहास का ब्योरा मात्र होने के कारण जब उत्तरार्द्ध में जायसी की कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है, तो उसके विश्लेषण से कुछ मिलने वाला नहीं है।

पद्मावत की बनावट के सिलसिले में एक निरर्थक चर्चा इस प्रकार की भी चली कि पद्मावत मसनवी शैली का प्रबन्ध-काव्य है। इस चर्चा से कोई आलोचनात्मक दृष्टि मिलने की आशा करना भ्रम है। पहले तो फ़ारसी या उर्दू में मसनवी नाम की कोई प्रबन्ध-काव्य की शैली नहीं है। मसनवी का अर्थ कुल इतना ही है कि कविता में दो-दो मिसरों वाले परस्पर तुकों से जुड़े हुए छन्द हैं। 'शाहनामा' भी मसनवी है, 'यूसुफ़-ज़ुलेखा' भी मसनवी है और उर्दू की 'गुलज़ार-नसीम' भी मसनवी है। जोश मलीहाबादी या अली सरदार जाफ़री की भी बहुत-सी कविताएँ मसनवी हैं। 'रामचरितमानस' भी मसनवी है। फिर भी लोगों ने अपनी तरफ़ से मसनवी के लक्षण भी गिनाये। इन लक्षणों में ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, ख़लीफ़ाओं की प्रशंसा और शाहे-वक़्त का गुणगान—यही सब उल्लेख्य हो गये। स्पष्टतः ये आरंभिक अंश कथा के लिए उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितना चिट्ठी के ऊपर लिखा हुआ श्रीगणेशायनमः। इससे अधिक नहीं। फिर, जैसा डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने दिखाया है, ईश्वर-वन्दना, देवस्तुति या राजप्रशंसा संस्कृत तथा अन्य भारतीय काव्यों में भी मिल जाती है। इसमें मसनवी की कोई अलग विशेषता नहीं है। यह भी कहा गया है कि भारतीय प्रबन्ध-काव्य सर्गबद्ध होते हैं। पद्मावत एक सर्गहीन प्रबन्ध-काव्य है, अतः इसकी शैली मसनवी शैली हुई। परन्तु ये सभी चर्चाएँ सतही हैं, क्योंकि इनका कोई वास्तविक सम्बन्ध कथा के साथ नहीं बनता।

अतः इस बंजर चर्चा को छोड़कर कथा के दो भागों में स्वाभाविक विभाजन की ओर ध्यान देना अधिक उपयोगी होगा। पूर्वार्द्ध की कथा प्रारम्भ से लेकर रतनसेन के पद्मावती सहित चित्तौड़ लौटने तक की है। उत्तरार्द्ध में उसके बाद से अन्त तक है। दोनों भागों की बुनावट में सतह पर स्पष्ट अन्तर दिखता है। पहले भाग का रूप परीकथा, लोककथा या निजन्धरी कथा जैसा है। दूसरे भाग में न सिर्फ़ अलाउद्दीन, दिल्ली, चित्तौड़ जैसे इतिहास-विदित नाम हैं, बल्कि उसकी बुनावट में अतिप्राकृतिक या जादुई घटनाएँ नहीं हैं। पहले भाग को मैंने सिंहल लोक जैसा नाम दिया है। इस लोक की क्या तात्त्विक विशेषता है, इसका विश्लेषण करना होगा। लेकिन पहले हम उत्तरार्द्ध की परीक्षा करें जिसे

शुक्ल जी ने इतिहास-वृत्त कहा है और उसकी तुलना में प्रथमार्द्ध को कल्पना पर आधारित बताया है।

शुक्ल जी ने टॉड की 'राजस्थान-गाथा' को आधार मानकर उत्तरार्द्ध की घटनाओं को इतिहास-वृत्त माना था। टॉड की राजस्थान-गाथाएँ इतिहास नहीं हैं।

इतिहासकार अब लगभग सहमत हैं कि चित्तौड़ की पद्मिनी और गोरा बादल आदि की पूरी कथा इतिहास से जायसी ने नहीं ली—अधिक संभावना यही है कि इतिहासकारों ने जायसी से ली। जायसी के पहले के फ़ारसी वृत्तान्त-लेखकों, जैसे अमीर ख़ुसरो, जियाउद्दीन बरनी और इसाकी आदि ने अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण और चित्तौड़-विजय का वृत्तान्त तो दिया है, परन्तु पद्मिनी का कोई उल्लेख नहीं किया है। अकबर-कालीन फ़रिश्ता ने अवश्य पद्मिनी की कथा और गोरा बादल की चतुराई से अलाउद्दीन की क़ैद से छुटकारे की कथा लिखी है। परन्तु फ़रिश्ता जायसी के बाद का लेखक है और स्पष्टतः कथा की रूपरेखा उसे सीधे जायसी से या सुनी-सुनाई शक्ल में मिली। राजस्थान में लोकगाथाओं के रूप में जो गोरा-बादल या पद्मिनी की ख्यातें मिलती हैं, वे भी जायसी के पहले की नहीं हैं। इन सभी बातों पर इतिहासकार प्रोफ़ेसर कानूनगो ने अपने 'लीजेण्ड ऑफ़ पद्मिनी' नामक लिखित व्याख्यान में अच्छी तरह विचार किया और इसी नतीजे पर पहुँचे कि गोरा बादल आदि का समस्त वृत्त जायसी ने स्वयं कल्पित किया। इस कथा को इतिहास मानना भूल होगी।

उदयपुर विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर दशरथ शर्मा ने डॉ० कानूनगो से असहमति व्यक्त करते हुए रत्नसिंह की ऐतिहासिकता स्थापित करते हुए कुम्भलगढ़ में उत्कीर्ण शिलालेख का उल्लेख किया। यह शिलालेख राणा कुम्भा का है। इसका समय सन् १४६० है। स्पष्टतः यह जायसी से पहले का है। लेकिन इस शिलालेख से इतना ही ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन के आक्रमण के पहले चित्तौड़ के शासक अमरसिंह थे। आक्रमण के समय उनके पुत्र रत्नसिंह थे। आक्रमण के समय दुर्ग की वास्तविक रक्षा लक्ष्मसिंह अथवा लखमसी शिशौदिया सरदार ने की जिसके सात बेटे युद्ध में काम आये। इस शिलालेख में न सिर्फ़ पद्मिनी, गोरा बादल आदि का कोई जिक्र नहीं है, बल्कि रत्नसिंह के बारे में भी कोई अच्छी धारणा नहीं बनती। सम्बद्ध श्लोक इस प्रकार है :

स (अर्थात् समरसिंह) रत्नसिंह तनयं नियुज्य
स्व चित्रकूटा चल रक्षणाय।

महेश पूजा हृत कल्मषोघः
इलापतिस्स्वर्ग पतिर्बभूव ।।

खुम्माण वंशं खलु लक्ष्मसिंह
स्तस्मिन्गते दुर्गवरम् ररक्ष ।
कुलस्थितिम् कापुरुषैर्विमुक्ताम्
न जातु धीरा पुरुषास्त्यजन्ति ।।

इस श्लोक का आशय यह है कि "समरसिंह ने अपने पुत्र रत्नसिंह को चित्रकूट, अर्थात् चित्तौड़गढ़ की रक्षा के लिए नियुक्त करके, महेश-पूजा द्वारा पुण्यवान् होकर, स्वर्ग के अधिपति का पद प्राप्त किया। उस रत्नसिंह के जाने के बाद खुम्माण वंश के लक्ष्मसिंह ने उस श्रेष्ठ दुर्ग की रक्षा की। निश्चय ही कापुरुषों द्वारा छोड़ी हुई अपने कुल की स्थिति को धीर पुरुष कभी नहीं त्यागते।"

इस श्लोक में दो बातें विचारणीय हैं। पहले तो रत्नसिंह के लिए 'तस्मिन्गते' जैसा लगभग उपेक्षासूचक शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'तस्मिन्गते' से दोनों अर्थ निकलते हैं—रत्नसिंह दुर्ग छोड़कर चला गया या मर गया। अमीर खुसरो ने अपने वृत्तान्त में राजा का नाम तो नहीं दिया, परन्तु यह अवश्य कहा है कि राजा फाटक खोलकर दौड़ता हुआ आया और उसने अलाउद्दीन के सामने आत्म-समर्पण कर दिया। परन्तु श्लोक का अर्थ यदि मर जाना भी हो तो 'तस्मिन्गते' इस मृत्यु के लिए निरादर का ही सूचक है क्योंकि उसी सन्दर्भ में समरसिंह को स्वर्गपति होने का दर्जा दिया गया है और आलेख में आगे चलकर लक्ष्मसिंह और उनके पुत्रों के बलिदान का बड़ा विरुद गाया गया है। उद्धृत श्लोक में कुलस्थिति की मर्यादा को न निभा सकने वाले कापुरुषों के उल्लेख से क्या व्यंजित होता है? अगर इस उल्लेख में कोई भी व्यंजना है, तो वह रतनसेन के कलंक की ही व्यंजना है, क्योंकि धीर पुरुषों का संकेत स्पष्टतः खुम्माण-वंशीय लक्ष्मसिंह के ही प्रति है। कुम्भलगढ़-आलेख का रत्नसिंह जायसी के रत्नसिंह से चरित्र और यश, दोनों में ही बहुत भिन्न है। यह सही है कि जायसी के रत्नसिंह ने भी युद्ध में पराक्रम दिखाने का कोई व्यक्तिगत उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया। कारागार से निकलकर भी उसे रक्षा के लिए एक बादल चाहिए जो उसे सकुशल चित्तौड़ पहुँचा दे। पहली बार जब जायसी का रत्नसिंह कुम्भलनेर के देवपाल से व्यक्तिगत युद्ध करता है तो मारा भी जाता है। परन्तु जायसी का रत्नसिंह कायर नहीं है, न विपत्तियों के सम्मुख समर्पण करता है। इस चारित्रिक दृढ़ता के कारण ही जायसी उसे

सत या साका बाँधने वाले, यश और कीर्ति बनाने वाले, अवसर आने पर सब कुछ दाँव पर लगाने वाले के रूप में चित्रित करते हैं। हम मान सकते हैं कि जायसी का प्रयोजन उस रत्नसिंह से नहीं था जिसका संकेत कुम्भलगढ़-आलेख में है या जिसका पीतल के समान पीला पड़ा हुआ चेहरा अमीर ख़ुसरो ने प्रस्तुत किया था। जायसी ने इतिहास से रत्नसिंह का नाम ले लिया और शेष सारी बातें उन्होंने अपनी कल्पना से जोड़ीं।

पद्मिनी और गोरा बादल की कथा को जायसी के पहले आती हुई लोक-कथा के रूप में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने माना है। परन्तु उन्होंने इस अनुमान के लिए आधार नहीं प्रस्तुत किया। इतिहासकार डॉ० दशरथ शर्मा ने इस सम्बन्ध में नारायणदास एवं रतनरंग द्वारा रचित 'छिताई-वार्ता' का साक्ष्य दिया है। 'छिताई-वार्ता' में भी अलाउद्दीन है जो छिताई को हरने के लिए देवगिरि के क़िले पर घेरा डालता है। उस समय अलाउद्दीन द्वारा कहा हुआ निम्नलिखित छंद आता है :

> यों बोलै दिल्ली को धनी। मैं चीतोर सुनी पद्मिनी ॥
> बाँध्यो रतनसेन मैं जाइ। लैगो बादल ताहि छुड़ाइ ॥ ३२१ ॥

डॉ० दशरथ शर्मा ने मान लिया है कि 'छिताई-वार्ता' जायसी के पहले की लिखी है। यह बात अपने आप में सन्दिग्ध है। अधिक संभावना इसी बात की है कि पूरी कृति या कम से कम यह छन्द, जायसी के बाद का हो। जायसी ने पद्मावत में छिताई-कथा का ज़िक्र किया है। वस्तुतः छिताई या राजा रामदेव की लड़की छितियापल्ली का अलाउद्दीन द्वारा ले जाये जाने का वृत्तान्त फ़ारसी इतिहासकारों में भी मिलता है। अमीर ख़ुसरो ने भी छिताई, दुख़्तरे-रामदेव का ज़िक्र किया है। कथा, कुछ ऐतिहासिक, कुछ अनुश्रुत, जायसी को ज्ञात रही होगी, किन्तु इससे 'छिताई-वार्ता' नामक पुस्तक जायसी के पूर्व प्रमाणित नहीं होती। फिर 'छिताई-वार्ता' दो बार लिखी गयी—एक बार संक्षेप में नारायणदास द्वारा और दूसरी बार बढ़ाकर रतनरंग द्वारा। रतनरंग जायसी के बाद ही ठहरते हैं। यह छंद रतनरंग का भी हो सकता है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'छिताई-वार्ता' की भूमिका में ग्रन्थ के सम्मान्य संपादक श्री रुद्र काशिकेय ने बहुत सशक्त तर्कों से यह दिखाया है कि 'छिताई-वार्ता' वस्तुतः जायसी के बाद लिखी गयी। इस सम्बन्ध में यह भी द्रष्टव्य है कि अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण देवगिरि के बाद हुआ है।

की सामान्य परिस्थितियाँ थीं और सबसे बढ़कर सुलतानों और शाहंशाहों की साम्राज्य-विस्तार की नीति को इस्लाम-बनाम-कुफ़्र की नारेबाज़ी से जोड़ना भी बादशाहों, मुल्लाओं, सूफ़ियों, राजाओं और पण्डितों के लिए स्वार्थ और परमार्थ दोनों को सिद्ध करने का आसान तरीक़ा था। जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्ता-संघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस समूचे परिदृश्य को नई पूर्वग्रहहीन आँखों से देखा—और उन्होंने उस विराट ट्रैजेडी और साथ ही इस सारे अभिमान की व्यर्थता को देखा जो उनके समाज को मथ रही थी। अन्त में अलाउद्दीन के बारे में जायसी का कथन है :

छार उठाइ लीन्हि एक मूँठी। दीन्हि उड़ाय पिरिथिमी झूठी।।

पद्मावत की कथा केवल अलाउद्दीन, रतनसेन और पद्मिनी की व्यक्तिगत ट्रैजेडी नहीं है—जिन शर्तों पर जायसी का समाज उलट-पुलट रहा है, उनके चलते समूची पृथ्वी के झूठी पड़ जाने की ट्रैजेडी है।

जायसी का युग, अर्थात् भारतीय इतिहास की सोलहवीं शताब्दी कई अर्थों में उथल-पुथल का युग है। राजनीतिक दृष्टि से मुहम्मद ग़ोरी के बाद दिल्ली-सुलतानों की तीन शताब्दियाँ शेरशाह सूरी के रूप में अपनी अन्तिम चकाचौंध दिखलाकर समाप्त हो रही थीं। नये हमलावर बाबर के साथ मुग़ल शाहंशाहों की नयी बुनियाद पड़ रही थी। इन तीन शताब्दियों में दिल्ली के चारों ओर नये सामन्ती रिश्ते बने और बिगड़े। भारतीय मुसलमानों, नव मुसलमानों और हमलावर मुसलमानों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संघर्षों के कारण तरह-तरह की दृष्टियाँ टकरा रही थीं। हिन्दुओं और मुसलमानों के सामन्ती सम्बन्धों में एक तरफ़ तो साथ रहने की विवशता के कारण निकटता की शक्तियाँ काम कर रही थीं, दूसरी तरफ़ कट्टर साम्प्रदायिक विचारधाराएँ भी थीं जो हठ कर के कुफ़्र और इस्लाम के बीच किसी मेल-जोल को पैदा होने से रोकना चाहती थीं। बाबर का मुक़ाबला इब्राहीम लोदी ने अलग किया और राणा सांगा ने अलग। इसके विपरीत, शेरशाह सूरी ने सब को साथ लेकर हुमायूँ को हराया। इसी प्रकार इस्लाम में एक ओर कट्टर पुनरुत्थानवादियों, महदियों और मुजाहिदों के आन्दोलन उठ खड़े होते हैं। दूसरी ओर अबुल फ़ज़ल और फ़ैज़ी जैसे उदार चिन्तक भी सामने आते हैं जो कट्टरता के पाश को ढीला करना आवश्यक समझते हैं। जायसी का युग इस्लामी सामन्तवाद में ज़बर्दस्त रस्साकसी का युग है। संक्षेप में, हिन्दू और मुसलमान दो सस्कृतियों की टक्कर के बाद सचमुच एक संस्कृति, एक भारतीय हृदय, एक समाज बन सकेगा या नहीं, यह प्रमथित करने वाला

प्रश्न सोलहवीं शताब्दी के सामने है। हिन्दू और मुसलमान, दोनों लड़ते-लड़ते थक गये थे। लेकिन विचारों और सत्ता के धरातल पर समन्वय का कोई आसान रास्ता फिर भी नहीं दिखाई पड़ता।

मध्ययुग में कई तरह के संघर्ष दिखलाई पड़ते हैं। हिन्दू-तुर्क-संघर्ष उसका एक अंश है। लेकिन मुसलमानों और मुसलमानों के बीच का सत्ता-संघर्ष कम जानलेवा नहीं है। डॉ० लोहिया के शब्दों में "मामला देसी-परदेसी का है। सबसे पहले अरब या और कहीं के मुसलमान आये। वह परदेसी थे। उन्होंने यहाँ का राज खतम किया, फिर वह धीरे-धीरे सौ-पचास बरस में देसी बने। लेकिन जब वह देसी बन गये, तो फिर एक लहर परदेसियों की आई जिसने इन देसी मुसलमानों को उसी तरह क़त्ल किया जिस तरह से कि हिन्दुओं को। फिर वह परदेसी भी सौ-पचास बरस में देसी बन गये और फिर दूसरी लहर आई ...."

इस लहर पर लहर, उतार-चढ़ाव, देसी-परदेसी की निरन्तर मुठभेड़, शहरी संवेदनशीलता और सतही संकीर्णता की खींचतान सांस्कृतिक तथा सामाजिक समन्वय बनाम पुनरुत्थान एवं शुद्धतावादी आन्दोलनों की कशमकश और इन सब के ऊपर हिन्दू-तुर्क सत्ता-संघर्ष के नाम पर धार्मिक उन्माद के के किलकिला समुद्र के बीच तलवार की धार की तरह सँवरे उस निर्मल भाव की तलाश कर रहे थे जहाँ यह सारा संघर्ष अप्रासंगिक हो जाता है। उसी निर्मल भाव का नाम उन्होंने प्रेम दिया। अल्लाह के प्रति गहरे प्रेम की जानकारी उन्हें सूफ़ियों, सन्तों और पैगम्बरों से प्राप्त हो चुकी थी। लेकिन उनकी बौद्धिक चुनौती इस प्रेम को इतिहास के चक्के पर चढ़ाने की थी। इसी प्रेम की कसौटी पर उन्होने अपने युग को कसा और उनकी अनुभूति में वह गहरी विषाद-दृष्टि उत्पन्न हुई जिसमें एक तरफ़ आदमी बैकुंठी भी हो जाता है, दूसरी तरफ़ एक मुट्ठी ख़ाक भी रह जाता है। पद्मावत की ट्रैजेडी इन दोनों अवस्थाओं के एकसाथ प्रज्वलित हो जाने की ट्रैजेडी है। जितना प्रेम है, उतना ही युद्ध है; जितना मन के भीतर दिपता हुआ सिंहल लोक है, उतना ही टूटे हुए दुर्गों की धूल उड़ाती हुई वीरानगी है; जितनी अपने हाथ से सिर उतार कर ज़मीन पर रख देने की तड़प है, उतना ही वैभव का प्रदर्शन है; सत है, साका है। इसमें से कौन-सा सच है, कौन-सा झूठ? कौन कथन विलास है, कौन यथार्थ?

पद्मावत की कथा के विश्लेषण के लिए और विषाद-दृष्टि से उत्पन्न आवश्यक शिल्प-विधि के अनुशीलन के लिए हम जायसी की कथा के दोनों

हिस्सों को आमने-सामने रखें तो जायसी की महान् और नैसर्गिक प्रतिभा का साक्षात्कार हम कर सकेंगे। जैसा हमने देखा, कल्पना दोनों ही भागों में समानतः काम करती है, परन्तु दोनों भागों में कल्पना द्वारा प्रसूत लोकों की प्रकृति भिन्न है। जिसे शुक्ल जी ने इतिहास का वृत्तान्त कहा है, वह वस्तुतः इतिहास नहीं है। आधुनिक अर्थों में वह पूर्णतः यथार्थवादी भी नहीं है। इसलिए हम उसे इतिहास या यथार्थ न कहकर थोड़ा अधिक लचीला नाम देंगे। कथा का उत्तरार्द्ध एक 'इतिहास-लोक' निर्मित करता है। यह 'इतिहास-लोक' पूर्वार्द्ध के लोक से भिन्न है जिसे हमने यूटोपिया, अलोक या सुविधा के लिए सिंहल लोक जैसा नाम दिया है। इस इतिहास-लोक की प्रामाणिकता का आधार यह है कि इसकी घटनाएँ आसपास के सत्ता-संघर्ष के सामान्यीकृत नमूने हैं। दिल्ली और शेष भारतीय समाज के बीच की खाईं और उस खाईं को निरन्तर युद्धों से पाटने की चेष्टा इस इतिहास-लोक को एक आतंककारी मुद्रा प्रदान करती है। मूलतः इस इतिहास-लोक में आन्तरिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। यही इसकी प्रधान विशेषता है। सारे सम्बन्ध, सभी उपादान, सारे मूल्य यहाँ बाहर से ही देखे जाते हैं। संस्कृति, मिथक, जादुई स्वप्न, लोकाचार, जीवन-पद्धतियाँ, पावन-अपावन की कोटियाँ, नैतिक वर्जनाएँ, यहाँ तक कि ईश्वर भी—ये तमाम विश्वास और आचार-विचार, जो हर सामन्ती समाज को निरन्तर युद्धों के बीच भी आन्तरिकता प्रदान करते रहते हैं, इस समाज में केवल अपरिचय, अजनबीपन और अलगाव पैदा करते हैं। इस इतिहास-लोक में एक नहीं, दो सामन्ती समाज हैं। तलवार ही इन दोनों सामन्ती समाजों को एक रखती है। ऐसी दशा में नैतिकता का स्रोत केवल सत्ता की निरंकुशता है। वह स्वयं किसी नैतिकता से बँधी नहीं है। प्रचण्डता और कोमलता, पाशविकता और प्रदीप्त सौन्दर्य, घोर आत्मलीनता और परकाया-प्रवेश—इन सभी द्वन्द्वों की सीमारेखा मिट जाती है और यह अवधारणा बराबर उलटती रहती है। इतिहास-लोक की इस आधारभूत आन्तरिकताहीनता से शेष सभी गुणों-अवगुणों का निस्सरण होता है, चाहे वह अलाउद्दीन का छल से भरा हुआ प्रतापी ऐश्वर्य हो, या कुचों की तूँबी से बादल को युद्ध पर जाने से रोकने वाली नव वधू की अकुलाहट हो, या अँतड़ियों को गले में डालकर लड़ने वाले गोरा का पराक्रम हो, या नागमती के लिए रतनसेन द्वारा दिया हुआ जंगली आदेश हो कि या तो तोते का प्राण वापस लाओ या उसी के साथ सती हो जाओ। जिस सत और सतीभाव की तड़पती हुई छवि रतनसेन सूली खण्ड में और विषाद और उत्सर्जन से भरी हुई छवि कथा के अन्त में पद्मावती

और नागमती के सती होने में प्रस्तुत की गयी है, उसी अवधारणा का यह कैसा विचित्र प्रयोग है ! और वह भी रतनसेन के मुंह से ।

सतह पर इतिहास-लोक अपनी बाहरी दुनिया में पर्याप्त है और सिंहल लोक अपनी आन्तरिकता में स्वतः संपूर्ण है । लेकिन तत्त्वतः वे अलग नहीं रह सकते । वे एक-दूसरे को बराबर बेधते रहते हैं और एक गहरी ट्रैजेडी को जन्म देते हैं । अगर हम आज की दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करें तो जायसी अध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी हैं और भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी । निश्चय ही यह एक जोखम-भरी दृष्टि है । लेकिन जायसी इस जोखम को उठाने के लिए तैयार हैं—क्योंकि वे कवि हैं, दार्शनिक नहीं ।

सत्य के दो नितान्त विभिन्न स्तरों पर, बिल्कुल भिन्न आयामों में कथा को फैलाने का ज़िम्मा लेकर जायसी ने बहुत बड़ा जोखम उठाया । सबसे बड़ा और पहला जोखम तो यही था कि काव्य-प्रबन्ध की एकतानता नष्ट हो जाती । इस तरह का जोड़ न पहले मसनवियों में बैठाया गया था और न बाद में 'रामचरितमानस' अथवा सूरदास के गीतों में । दाऊद, कुतबन, मंझन आदि किसी ने यह साहस नहीं किया था । हम कह चुके हैं कि एक हद तक इस नये प्रयोग की सज़ा जायसी को भुगतनी पड़ी । किसी ने पूर्वार्द्ध को याद रखा और पद्मावत को सूफ़ी ग्रन्थ बना दिया, किसी ने उत्तरार्द्ध को याद रखा और पद्मावत को इतिहास की पोथी मान लिया । लेकिन इन व्यतिरेकों के बावजूद पद्मावत एक सुगठित और एकतान संरचना का काव्य है । पूरा काव्य अन्ततः केन्द्रित, सम्पूर्ण और अखण्डित बौद्धिक सघनता का प्रभाव छोड़ता है जो ट्रैजेडी-जैसा होते हुए भी यूनानी अर्थ में ट्रैजेडी नहीं है और जिसे मैंने जायसी की विषाद-दृष्टि कहा है । इस चमत्कार के पीछे शिल्प का कौन-सा कौशल है ?

जायसी ने अपनी कल्पना में जिस मनोलोक का आविष्कार किया था, वह नया नहीं था । उस मनोलोक की छवि उनसे पहले के शायर, कवि, सूफ़ी, संत, संन्यासी, वेदान्ती, योगी, सभी बराबर देखते आ रहे थे । जायसी ने इन सबकी शब्दावली उधार ले ली । उनका उद्देश्य इस मनोलोक की एकनिष्ठ साधना का नहीं था । वस्तुतः यह जगमगाता हुआ मनोलोक उन्हें कवि की सहज प्रतिभा के द्वारा अनायास ही प्राप्त था । न उन्हें अलग से कुण्डलिनी जागृत करने की ज़रूरत थी, न तरीक़त के बसेरों को रेंगते हुए पार करने की मजबूरी थी । इसीलिए उन्होंने किसी एक मार्ग की शब्दावली नहीं चुनी । उन्हें साधना की नहीं, प्रातिभ आन्तरिकता की तलाश थी । लेकिन

इस आन्तरिकता की छवियों को पहचानने के बाद जायसी ने जो नई बात की, वह यह थी कि इस सारे सिंहल-लोक को उन्होंने बरबस इतिहास के बीचो-बीच लाकर खड़ा कर दिया। यह दुःसाहस न पहले मौलाना रूम ने किया था, न जामी ने, न अमीर ख़ुसरो ने। अमीर ख़ुसरो की तसवीर तो और भी त्रासद है। एक तरफ़ तो पिघलती हुई वाणी वाला ग़ज़ल कहने वाला सूफ़ी ख़ुसरो है जो सचमुच अपने समय का तूतीये-हिन्द है। दूसरी तरफ़ ग्यारह दरबारों में अपना काम निकालने वाला इतिहासकार ख़ुसरो है जिसकी चाटुकारिता और कट्टरता देखकर हम दंग रह जाते हैं। इन दो ख़ुसराओं में, लगता है, कभी भेंट नहीं होती। 'चन्दायन' में मुल्ला दाऊद ने भी यह दुःसाहस नहीं किया। संत कबीर ने अपनी सहज समाधि से बाहर निकल कर इधर-उधर झाँका जरूर, लेकिन उनकी हिम्मत भी पड़ोस के मुल्ला और पंडित से आगे बढ़ने की नहीं हुई। उनकी कविता में वह दुनिया कसौटी पर कसी ही नहीं जाती जहाँ दिल्ली है, चित्तौड़ है, कुम्भलगढ़ है, कूच करती हुई सेनाएँ हैं, हरेवों के आक्रमण हैं और चूर-चूर होते हुए गढ़ हैं। जायसी के बाद भक्ति की जो कविता सूरदास और तुलसीदास ने लिखी, उसने अपने भीतर के द्वापर और त्रेता में ही मनुष्य-मात्र का सब कुछ समाविष्ट करने की ठान ली। आन्तरिक मनोलोक अधिक प्रेरक, अधिक समृद्ध, अधिक नैतिक और देदीप्यमान अवश्य हो गया। यहाँ मेरा उद्देश्य जायसी और सूरदास तथा तुलसीदास की काव्यगत महानताओं की तुलना करने का नहीं है। इस उल्लेख का अभीष्ट केवल इतना ही दिखलाना है कि युग के साक्षात्कार की एक चुनौती, जिसे जायसी ने स्वीकार किया था, की ओर से इन महान् कवियों ने मुँह फेर लिया। इसके सामाजिक और सांस्कृतिक कारण थे। आगे चलकर अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के रीति-कवियों ने तो इसी आन्तरिक अलोक को लौकिक बनाने में पूरी क्षमता लगा दी, लेकिन द्वापर की चहारदीवारी उन्होंने नहीं लाँघी। वास्तविकता यह है कि अलोक और लोक, सिंहल द्वीप और इतिहास का जो संधिस्थल जायसी ने देखा, वह फिर किसी कवि ने हिन्दी में नहीं देखा। इसीलिए जायसी अपने ट्रैजिक विज़न अथवा विषाद-दृष्टि में अकेले हैं; उनका न कोई पूर्ववर्ती है, न परवर्ती है।

सिंहल लोक की मूलभूत विशेषता यह है कि वह न केवल देश के आयाम में अलोक है, परन्तु काल में भी वह अलोक है। संसार में भाँति-भाँति के द्वीप हैं, परन्तु सिंहल द्वीप अनोखा है। जायसी कथा को पहले सिंहल द्वीप से ही आरम्भ करते हैं। बहुत सावधानी के साथ एक-एक दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत होते है। आरम्भ में ही कहीं दूर से निकट और निकटतर आने की

शब्दावली से हमारे इतिहास-लोक और सिंहल द्वीप के सिंहल-लोक में दूरी का आभास होता है :

> जबहि दीप निअरावा जाई । जनु कबिलास निअर भा आई ॥
> घन अँबराउँ लाग चहुँ पासा । उठै पुहुमि हुति लाग अकासा ॥
> तरिवर सबै मलैगिरि लाए । भै जग छाँह रैनि होइ छाए ॥
> मलै समीर सोहाई छाहाँ । जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ ॥
> ओही छाँह रैनि होइ आवै । हरिअर सबै अकास दिखावै ॥
> पंथिक जौं पहुँचै सहि घामू । दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू ॥
> जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा । बहुरि न आइ सही यह धूपा ॥
>
> अस अँबराउँ सघन घन बरनि न पारौं अंत ।
> फूलै फरै छहूँ रितु जानहु सदा बसंत ॥ २७ ॥

इस प्रकार 'सिंहल द्वीप-वर्णन' का आरम्भ होता है । पहली तसवीर बाहर से दिखती हुई अमराई की है और पहली चौपाई में द्वीप के निकट पहुँच कर 'कविलास' (जो जायसी के लिए यूटोपिया और स्वर्ग का मिलता-जुलता अर्थ देने वाला शब्द है) की प्रतीति होती है । फिर बारम्बार जेठ की धूप में तप-कर आते हुए पथिक के लिए छाया और विश्राम के बिम्बों के द्वारा इस दूरी की अनुभूति को पुष्ट किया गया है । 'अनूप छाँह' सिंहल-लोक है । 'यह धूप' इतिहास-लोक है । इस छाँह का साक्षात्कार धूप वाली दुनिया को तिरोहित कर देता है, ऐसी इसकी प्रकृति है । लेकिन जैसा हम देखेंगे, रतनसेन की कथा सही है कि इस अनूप छाँह को पाने के बाद भी इस धूप वाले इतिहास-लोक में वापस आना पड़ा । दोनों लोकों का सम्बन्ध ही इसी प्रकार का है ।

धीरे-धीरे, जैसे फ़िल्म का कैमरा एक-एक चित्र को अधिक क्लोज़-अप में दिखलाता है, इस अमराई में अलग-अलग पेड़ दिखते हैं, फिर तरह-तरह के पंछी, कुआँ-बावड़ी, फिर तरह-तरह के साधू-संन्यासी, मानसरोवर, फिर सिंहल नगर, फिर सिंहल की हाट, फिर सिंहल का गढ़, फिर गढ़ के भीतर की दुनिया, फिर राजसभा, फिर रनिवास, फिर चंपावती, फिर पद्मिनी और इस पूरे वर्णन में बाहर से आये हुए दर्शक के सामने एक-एक करके चित्र उद्घाटित करने वाली शब्दावली दुहराई गयी है :

> मानसरोदक देखिअ काहा । भरा समुँद अस अति अवगाहा ॥
> पुनि जो लागि बहु अंब्रित बारी । फरीं अनूप होइ रखवारी ॥

सिंघल नगर दीख पुनि बसा। धनि राजा असि जाकरि दसा ।।
पुनि देखिअ सिंघल कै हाटा। नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा ।।
पुनि आइअ सिंघल गढ़ पासा। का बरनौं जस लाग अकासा ।।
पुनि चलि देखा राज दुआरू। महि घूँबिअ पाइअ नहिं बारू ।।
राज सभा पुनि दीखि बईठी। इंद्रसभा जनु परि गइ डीठी ।।

यह देखो, फिर यह देखो, फिर यह देखो.........

इसी प्रकार वर्णन तब तक चलता है जब तक हम अन्तःपुर में पहुँच कर पद्मिनी के जन्म की कथा नहीं सुनने लगते। हर चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है जैसे हम दीवारों पर बनाई हुई चित्रावली या उत्कीर्ण मूर्तियाँ देख रहे हों। जहाँ थोड़ी-बहुत गति है, जैसे बाज़ार आदि के वर्णन में, वहाँ भी गति का आभास उतना ही है जितना कुशल चित्रकार के निश्चल चित्रों में चित्र-कौशल के कारण उत्पन्न होता है—कालप्रवाह की गति की भाँति नहीं, बल्कि काल-हीनता में ही स्थित एक उदग्र गतिमयता की भाँति।

इस प्रकार का चित्रमय व्यवहार न चित्तौड़ के साथ किया गया है, न आगे चलकर दिल्ली के साथ। वस्तुतः चित्तौड़ का उल्लेख इस तरह शुरू होता है जैसे उसके परिचय की आवश्यकता न हो। 'चित्रसेन चितउर गढ़ राजा। कै गढ़ कोट चित्र जेइँ साजा'। इसी तरह दिल्ली भी सहसा बिना परिचय के कथा में आ जाती है। इस प्रकार यह आधारभूत बनावट तैयार होती है कि चित्तौड़ और दिल्ली हमारे परिचित लोक के अंग हैं। वे उसी कालप्रवाह या इतिहास-लोक में हैं जिसमें कवि, उसकी कविता और उसका कविता का पाठक उपस्थित है। इसके विपरीत, सिंहल-लोक हमारे सामान्य देश-काल से दूर है, अ-लोक है। दीवार पर खिंचे हुए चित्र की भाँति हमारे देखते ही वह स्थिर वर्तमान की भाँति उपस्थित होता है। यह स्थिरीभूत कालहीन स्वतःसम्पूर्ण गतिमयता सिंहल-लोक का पहला लक्षण है जिससे हमारा सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है। जायसी की काव्य-क्षमता इसमें है कि सहज उद्भावना के साथ यह लक्षण हम तक पूरी तरह संप्रेषित हो जाता है।

पूर्वार्द्ध की कथा में, जिसका विस्तार रतनसेन के चित्तौड़ में पद्मिनी के साथ वापस होने तक है, घटनाओं का अभाव हो—ऐसा नहीं है। जहाँ घटनाएँ होंगी, वहाँ कालप्रवाह भी होगा। परन्तु घटनाओं के इस क्रम में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो घटनाओं की गति अत्यन्त मन्द है। कथा के दूसरे हिस्से में, जिसकी धुरी चित्तौड़ और दिल्ली के बीच है, घटनाओं की गति बहुत तेज़ है। यहाँ तक कि अलाउद्दीन के घेरे के छह बरस कब गुज़र जाते हैं, पता

नहीं चलता। और, अन्त में तो गति इतनी तेज़ हो गयी है कि अलाउद्दीन द्वारा अन्तिम आक्रमण, बादल का आकर जूझ जाना, स्त्री-पुरुषों का जौहर और गढ़ का ध्वस्त हो जाना—यह सब एक ही कड़वक में समाप्त हो जाता है, जैसे सहसा काल के चक्र को तेजी से घुमा दिया गया हो और अन्त में एक जबर्दस्त झनझनाहट के साथ सारा चक्र चकनाचूर हो गया हो।

पूर्वार्द्ध की कथा में अतिप्राकृतिक घटनाएँ या स्थितियाँ जुड़ी हुई हैं। वातावरण परीकथाओं या निजन्धरी कथाओं जैसा बन जाता है। हीरामन तोता है जो मनुष्यवत् बोलता और व्यवहार करता है। सात समुद्र हैं जिनकी न सिर्फ़ अपनी-अपनी अलग प्रकृति है, बल्कि जिनकी लहरें मानवीय उद्देश्यों या आवेगों से जुड़ी हुई हैं। वृक्ष, फल, फूल हैं जिन पर मौसम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गढ़ में नीर-क्षीर की दो नदियाँ हैं जिनका पानी पीने से बुढ़ापा नहीं आता। एक सोने का कल्पवृक्ष भी है। उसका फल खाने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। एक मानसरोवर है जो पद्मावती के पैरों को छूकर पानी में डूबा हुआ हार स्वयं नीचे से निकाल कर जल पर तैरा देता है। राक्षस है जो जहाजों को ग़लत रास्ते ले जाता है, महिरावण की हड्डियों का पहाड़ है, समुद्र का देवता है जो रतनसेन और पद्मिनी को अलग करता है, फिर मिला देता है। और फिर साक्षात् महादेव और पार्वती भी हैं जो घटना-क्रम में दखल देते हैं। यह अतिप्राकृतिक विस्तार पूर्वकथा में चित्तौड़ तक है जहाँ नागमती का विरह-संदेश विहंगम ले जाता है और चिड़ियों की आपसी बातचीत सुनकर रतनसेन नागमती की विरह-दशा समझ लेता है। परन्तु यह सारा जादू-भरा या अद्भुत घटनाक्रम 'अलिफ़-लैला' या 'चन्दायन' या 'मृगावती' की जादुई घटनाओं की तरह मात्र कौतूहल या आश्चर्य के धागे से बँधा हुआ नहीं है। समूचे पूर्वार्द्ध में इन घटना-तरंगों का उठना-गिरना वस्तुतः एक विश्वव्यापी नैतिक और भावात्मक सामंजस्य का अंग है जो मनुष्य और मनुष्येतर प्रकृति को एक ही संगीत से अनुप्राणित करता है। पद्मावती बेशक इस विश्वव्यापी संगीत की टेक है। इसी अर्थ में पद्मावती का रूप पारस-रूप है। उसकी छवि एकसाथ धरती पर जगमगाते कणों से लेकर सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों तक समान रूप से तरंगित होती है। यह इस कारण नहीं है कि जायसी का उद्देश्य पद्मावती की परमसत्ता या दिव्य आत्मभाव का प्रतीक या प्रतिबिम्ब बनाना था, क्योंकि कथाप्रवाह में हमें पद्मावती के इस रूप का दर्शन नहीं होता, बल्कि समूचा सिंहल-लोक चेतना के उसी स्तर पर अवस्थित है जहाँ चेतना और प्रकृति, आन्तरिक उद्वेलन और बाह्य जगत्, नैतिक मर्यादा और प्राकृतिक घटनाक्रम के बीच खाईं नहीं रह जाती। जो तरंगें भीतर

उठती हैं, वही तरंगें बाहर भी उठती हैं। इसीलिए परीकथाओं का अभिप्राय हीरामन तोता इस अंश में पण्डित, संदेशवाहक, गुरु और बहेलिये द्वारा पकड़े जाने वाले सामान्य पक्षी की भूमिका एकसाथ निभाता है। मानसरोवर लहरें उठाता है, पद्मावती के पैरों को छूकर शान्त हो जाता है और खेल में सहभागी बन जाता है। नागमती की विरह-वेदना पेड़-पौधे, जंगल, पशु-पक्षी, सबको इस तरह लपेटती है कि चित्तौड़ का क़िला भी आँखों से ओझल हो जाता है। चेतना की उस तीव्र अवस्था में चिड़िया संदेश लेकर रतनसेन तक जाती है। इसी प्रकार नैतिक संकीर्णता की मनःस्थिति में जब रतनसेन अपने नये प्राप्त वैभव का एक हिस्सा समुद्र को देने से हिचकता है, तो वही समुद्र जिसे पार करते हुए उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई थी, लौटते समय उसके सारे जहाज़ों को डुबो देता है। अलग-अलग ऋतुओं में खिलने वाले पेड़ एकसाथ खिलते हैं, क्योंकि प्राकृतिक नियम यहाँ आन्तरिक उल्लास के अनुरूप अपनी अनिवार्य स्वायत्तता को त्याग चुके हैं। इन पेड़ों पर बहुत सारे पक्षी हैं, उनकी भाषाएँ अलग-अलग हैं। परन्तु उसी विचार-सामंजस्य के अन्तर्गत ये सारे पक्षी अपनी-अपनी भाषा में उसी एक ईश्वर का नाम लेते हैं। और, क़ुरान या जायसी के शब्दों में पाढ़ित भी उन आयतों का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं जिसमें कहा गया है कि हर चीज़ उसी अल्लाह की तसबीह करती है। "और उसकी पाकी को तो सातों आसमान और ज़मीन की चीज़ें बयान कर रही हैं जो आसमान और ज़मीन पर हों। कोई ऐसी चीज नहीं जो इसकी हम्द के साथ उसकी तसबीह न कर रही हो।"

—क़ुरआन—सूरा बनी इसरायल, आयत ४२,४३ ॥

बाजार में जहाँ सिंहल-दीपी महाजन बैठे हैं, कोई माल बेचता है, कोई ख़रीदता है। कोई लाभ लेकर चलता है और कोई मूल भी गवाँ बैठता है। मेला लगा हुआ है। धर्म और पुराण के बखान के साथ तरह-तरह के खेल-तमाशे भी हो रहे हैं। इसमें इन्द्रजाल करने वाले, जादूगर, धूर्त-पाखण्डी, चोर-जेबकतरे सभी हैं जो मौक़ा पाकर हाथ साफ़ कर देते हैं। परन्तु यह सारी मुनाफ़ाखोरी और दिवालियापन, यह सारा धर्मपंथ और ठगविद्या एक विलक्षण समरसता से ओतप्रोत हैं। जैसे समुद्र में ऊँची-नीचे लहरें उठ रही हैं, परन्तु वे समुद्र की प्रभूतता को ही रेखांकित करती हैं, समुद्र की एकतानता को खण्डित नहीं करतीं। यहाँ तक कि वेश्याओं एक का सिंगार-हाट भी है। वहाँ सौन्दर्य का ऐसा आकर्षण है कि आदमी एक क़दम भी वहाँ से नहीं हटता। कितने खिलाड़ी वहाँ सब कुछ खो देते हैं। फिर कोई नहीं पूछता। हाथ झाड़कर चलना ही शेष रह जाता है :

चेटक लाइ हरहिं मन जौ लहि गथ है फेंट।
साँठि नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचानि न भेंट ॥३८॥

यहाँ भी कविता के भावयंत्र पर जायसी का अद्भुत अनुशासन बना हुआ है। यह विलक्षण उतार-चढ़ाव, बाज़ार की दिलरुबाई और बेवफ़ाई भी लहरें उठाते-गिराते समुद्र की सम्पन्नता, परन्तु सामंजस्य को ही ध्वनित करती हैं।

संक्षेप में, सिंहल लोक में अवस्थित घटनाक्रम और उससे उद्भूत काल-प्रवाह अपनी विविधता के बावजूद इतिहास-लोक का कालप्रवाह नहीं है जो विरोधों, संघर्षों और असामंजस्य को जन्म देता है। वस्तुतः यह कालप्रवाह तात्त्विक और मानवीय मूल्यवत्ता का प्रवाह है जिसकी जड़ें हमारी आन्तरिकता में हैं। चेतना और वस्तु, आन्तरिकता और बाह्यता का यह सम्पन्न, परन्तु अटूट सामंजस्य सिंहल-लोक की दूसरी विशेषता है। इसी-लिए परीकथाओं, पौराणिक सन्दर्भों, काव्यात्मक अभिप्रायों से निर्मित यह दुनिया उस गहरी मूल्यवत्ता का वाहन बनने में समर्थ है जिसे जायसी ने प्रेम का नाम दिया है जिसके कारण दो मुट्ठी धूल-सरीखा मनुष्य बैकुण्ठी हो जाता है। जहाँ की छाँह अनूप है। इस सिंहल-लोक में तत्त्वतः न भूत है, न भविष्य। यह एक सतत वर्तमानता का लोक है।

सिंहल द्वीप को मैंने अलोक कहा है, परन्तु वह आदर्श लोक नहीं है। उसकी विविधता में काले, सफ़ेद सभी रंग हैं। अगर जायसी का अभीष्ट केवल अपनी आन्तरिक यात्रा का कथात्मक पर्याय तलाश करना होता तो वे बड़ी आसानी से उसे आदर्श लोक बना सकते थे और कथा को पद्मिनी और रतनसेन के मिलाप के बाद समाप्त कर देते। या, चित्तौड़ को भी उसी अ-लोक साम्राज्य का एक और राज्य बना सकते थे, जैसा 'चन्दायन', 'मृगावती' या 'मधुमालती' की कथाओं में है। इन कथाओं के सारे नगर, जंगल, नदियाँ, राक्षस, राजकुमार, राजकुमारियाँ, कल्पना के एक ही स्तर पर अवस्थित हैं। इनमें से कोई भी स्थल एक भिन्न प्रकार के इतिहास-लोक में अवस्थित नहीं है। अगर जायसी कथा को यहीं समाप्त कर देते तो भी प्रेम की पीर की अन्तर्वर्ती यात्रा के दस्तावेज़ के रूप में पद्मावत एक शक्तिशाली ग्रन्थ होता। लेकिन जायसी जिस प्रेम की पीर का अवगाहन कर रहे थे, जो ट्रैजिक विज़न उनकी चेतना को मथ रहा था, उसके लिए अकेले सिंहल-लोक की यात्रा काफ़ी नहीं थी। उनकी कल्पना ने सिंहल के मुक़ाबले में एक दिल्ली की रचना की। यह

दिल्ली इतिहास-लोक की दिल्ली है, देश और काल से बँधी हुई दिल्ली है। अलाउद्दीन गंधर्वसेन से कम प्रतापी राजा नहीं है। कुछ अधिक ही है। गंधर्वसेन की प्रतापी सेना दीवार पर चित्रित, आभूषण की तरह जगमगाती सेना है। लेकिन अलाउद्दीन की सेना वस्तुजगत् की सेना है जो गाँव उजाड़ती है, दुश्मनों के दाँत खट्टे करती है, गढ़ों को चूर-चूर करती है। यह सेना काव्यात्मक अभिप्रायों की सेना नहीं है, वास्तविक सेना है। परन्तु इस दिल्ली में कोई आन्तरिकता नहीं है। इस दिल्ली का घटनाक्रम सत्ता, शक्तिमत्ता और आतंक का घटनाक्रम है। परन्तु यह घटनाक्रम किसी वैश्विक सामरस्य से बंधा हुआ घटनाक्रम नहीं है। यह घटनाक्रम भीतर और बाहर को समन्वित नहीं करता, चेतना और वस्तुजगत् को बाँधता नहीं, केवल उनमें गहरे विषाद और व्यंग्य से भरी हुई खाईं उत्पन्न करता है।

अप्रतिम शक्ति का स्वामी अलाउद्दीन क्या चाहता है? वह पद्मिनी को प्राप्त करना चाहता है। पूरी व्याकुलता से प्राप्त करना चाहता है। उसकी सेना के आगे चित्तौड़ की क्या बिसात है। वह चित्तौड़ जीत लेता है। सब कुछ मिल जाता है। एक पद्मिनी नहीं मिलती। विजय का उत्कर्ष उसकी पराजय का भी क्षण है:

> आइ साहि सब सुना अखारा। होइगा राति देवस जो बारा॥
> छार उठाइ लीन्हि एक मूँठी। दीन्हि उड़ाइ पिरिथिमी झूँठी॥

शाह ने पहुँच कर उनके वीरतापूर्वक सती हो जाने का हाल सुना। रात-दिन जिसे रोका था, वही हो गया। उसने एक मुट्ठी राख उठाई और 'पृथ्वी झूठी है' कहते हुए हवा में उड़ा दी।

स्वप्नों, आकांक्षाओं, मूल्यवत्ता की एक दुनिया भीतर है। रौंदती हुई सत्ता की एक आतंककारी दुनिया बाहर है। क्या ये दोनों दुनियाएँ एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर समन्वय प्राप्त कर सकती हैं? जब ये दोनों दुनियाएँ एक-दूसरे के निकट आती हैं, तो क्या होता है? अपनी आत्मा की पूरी शक्ति से जायसी ने इसी सवाल को आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आयामों में पूरी पद्मावत-कथा में पूछने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। जवाब में उन्होंने देखा—चिता से उड़ती हुई राख और एक वीरान सन्नाटा। और, जायसी उस चिता की राख को कुरेदते हैं कि इसमें एक धड़कता हुआ हृदय था, उसका क्या हुआ? ग़ालिब के शब्दों में:

> जला है जिस्म जहाँ दिल भी जल गया होगा।
> कुरेदते हो ये क्यों ख़ाक जुस्तजू क्या है?

यह जुस्तजू ही वह प्रश्नचिह्न है जिसे हम जायसी के ट्रैजिक विज़न या विषाद-दृष्टि की भाँति देखते हैं।

इस प्रश्न को पूरी गहराई और अपने युग के आतंककारी संघर्षों की व्यापक पृष्ठभूमि में रखकर पूछने के लिए जायसी ने पद्मावत के कथानक की बनावट में एक विलक्षण प्रयोग किया जो उनकी महान् कल्पना-शक्ति और सृजनात्मक प्रतिभा का परिचायक है। उन्होंने सिंहल-लोक और इतिहास-लोक को दर्पण की भाँति एक-दूसरे के सामने रख दिया। कथा की दोनों भुजाओं में एक समान्तरता स्थापित हो गयी। दोनों दुनियाएँ एक-दूसरे को प्रतिच्छायित करती हैं—और उनकी समानता और उनकी विषमता एकसाथ अभिव्यंजित होती है।

अतिप्राकृतिक घटनाओं की कथा वहीं समाप्त हो जाती है जब अमृत, हंस, सोनचिड़िया, शार्दूल-शावक और पारस पत्थर लेकर रतनसेन और पद्मिनी जगन्नाथपुरी में वापस आते हैं। आगे की घटनाओं में इन चमत्कारी वस्तुओं का घटनाक्रम में कोई योगदान नहीं होता। जगन्नाथपुरी में पान के बीड़े के साथ दिया हुआ मामूली रत्न बाज़ार में बेचकर ही पद्मिनी ने आगे का काम चलाया। उस रत्न की आभा भी जेब में रखे हुए पैसे के बराबर की हो गयी।

सिद्धान्ततः सिंहल द्वीप शुद्ध अलोक है। दिल्ली शुद्ध इतिहास-लोक है और चितौड़ दोमुँहा है। उसका एक मुँह सिंहल द्वीप की ओर है, दूसरा दिल्ली की ओर है। कथा की नायिका पद्मावती तीनों में लक़ीर की तरह खिंची हुई है। स्वप्न और यथार्थ, आकांक्षा और मुट्ठी-भर राख, जीवन और मृत्यु, इन आदिम विरोधों के बीच दीपित होती हुई भूमिका उसे जायसी ने प्रदान की है। वस्तुतः पद्मावती दो दर्पणों के बीच प्रकाश का वह सेतु है जिसके द्वारा कथा के दोनों भाग परस्पर अनुस्यूत होते हैं। इस सेतु की भूमिका को अच्छी तरह समझने के लिए कथा की दोनों भुजाओं की बनावट को देखना आवश्यक है।

पहले हम कुछ सामान्य छवियों-प्रतिच्छवियों को लें। प्रेम के चरमोत्कर्ष में पद्मिनी के प्रति अपनी अनन्या प्रीति रतनसेन ने इस स्तर पर स्थापित की कि सकल विश्व, यहाँ तक कि देवता और समुद्र भी, उस प्रेम के उद्वेग से आन्दोलित हो गये। चित्तौड़ पहुँचते ही यह अनन्यता दो बीवियों के बीच सन्तुलन बनाने की व्यावहारिक समस्या में बदल जाती है। पद्मिनी एक अलग महल में उतारी गयी। इस व्यावहारिक समस्या का समाधान निकालने के लिए रतनसेन नागमती और पद्मावती, दोनों से झूठ पर झूठ बोलता है। वह

जो सिंहल-लोक में विरह की सलाखों पर जलता हुआ मांस और आंखों से टपकता हुआ रक्त का आंसू था, यहाँ आकर चतुराई और व्यवहार-कुशलता में बदल जाता है।

प्रथमांश में पद्मावती की पहली तसवीर हमें मानसरोदक खण्ड में लड़कियों के खेल में दिखती है। वह दृश्य पद्मावती के पारस-रूप, निरीह उल्लास और भोली उन्मुक्तता की छवि प्रस्तुत करता है। यह लगभग नितान्त आन्तरिक जादू-भरा सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य से भी एक क़दम आगे जिसकी तसवीर हीरामन ने रतनसेन को दी थी—जहाँ नख-शिख पार्थिव और अपार्थिव सौन्दर्य का मिला-जुला रूप है। इतिहास-लोक में इसकी प्रतिच्छवि सौत की डाह से जलती हुई, घाघ शब्दावली में गाली बकती और आख़िरकार सौत से हाथा-पाई करने वाली पद्मावती में दिखाई पड़ती है। सौन्दर्य और यौवन उस दृश्य में भी हैं जिसे देखकर देवता भी खड़े-खड़े मर जाते हैं। लेकिन पार्थिवता के आगे आन्तरिकता लगभग तिरोहित है। जादू उतना ही है जितना दिल पर छुरी चला देने के लिए चाहिए।

सिंहल-लोक की कथा में प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक, यथार्थ और जादुई घटनाओं में कोई सीमारेखा नहीं है। इन सबकी प्रतिच्छाया के रूप में चित्तौड़ की कथा जादुई चमत्कार के निषेध से आरम्भ होती है। राघव चेतन ने अमावस्या के दिन द्वितीया का चाँद दिखला दिया। विपत्तियों की शुरुआत इसी घटना से होती है। जायसी ने बहुत नाटकीय ढंग से दिखलाया कि अब हम एक दूसरे लोक में पहुँच गये हैं। इस लोक में सिंहल-लोक की शर्तें निरर्थक ही नहीं, पंथ और ग्रंथ के विरुद्ध भी हैं। इतिहास-लोक में चमत्कारवाद का सर्वथा अभाव है, यहाँ तक कि समुद्र द्वारा दिये हुए चमत्कारी रत्नों का भी कोई उपयोग आगे की घटनाओं में नहीं किया जाता। पहले जो वैश्विक सामरस्य था, अब केवल यक्षिणी सिद्ध करने के अभिचार-जैसा दिखता है।

राघव चेतन हीरामन तोता की दूसरी भुजा है। हीरामन तोता पद्मिनी का बखान करता है। राघव चेतन भी लगभग उसी शब्दावली में पद्मिनी का नख-शिख वर्णन करता है। लेकिन दोनों के वर्णन में एक तात्त्विक अन्तर है। हीरामन के सिंहल-लोकीय वर्णन में पद्मिनी एक अद्वितीय व्यक्ति है। अलाउद्दीन के सम्मुख राघव चेतन के वर्णन में पद्मावती केवल पद्मिनी जाति की स्त्री है। व्यक्ति नहीं है, नमूना है। इसको रेखांकित करने के लिए अलाउद्दीन और राघव चेतन की बातचीत में जायसी ने इस पर काफ़ी ज़ोर दिया है।

रतनसेन भी पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए गढ़ घेरता है, अलाउद्दीन भी गढ़ घेरता है। लेकिन एक मरने के लिए तैयार होकर चढ़ाई करता है, दूसरा मारने के लिए। अलाउद्दीन छल से पद्मिनी को देखता है और छल से ही रतनसेन को बन्दी करके ले जाता है। लेकिन अपने उद्देश्य को मन में ही रखकर पहले वह रतनसेन से कैसी मीठी बातें करता है। महादेव ने रतनसेन को सिंहल द्वीप में उपदेश दिया था—'परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ जासौं मन राता।' महादेव की सलाह रतनसेन ने तो नहीं मानी। वह सीधे मुख्य फाटक पर पहुँच गया। लेकिन इतिहास की प्रतिच्छवि में, लगता है, सिद्ध गुटिका की सीख के अनुसार काम अलाउद्दीन ही करता है। प्रकट में लोकाचार, भीतर-भीतर पूरी तैयारी। छाया-प्रतिच्छाया की इस बुनावट में सारे अभिप्राय उलटे अर्थ क्यों व्यंजित करने लगते हैं ?

लेकिन सबसे गहरा अन्तर तो काल की गति का है। सिंहल-लोकीय काल के विश्लेषण में हमने देखा कि वहाँ कालबोध एक चिरंतन स्थिरता और वैश्विक सामरस्य की तरह अनुभूत होता है। परन्तु दिल्ली-चित्तौड़ की दुनिया में काल भूत-वर्तमान-भविष्य की सीधी रेखा में दौड़ता है। हर स्थिति, हर घटना भविष्य की ओर भागती है और इस भविष्य पर किसी का कोई अधिकार नहीं है—न रतनसेन का, न अलाउद्दीन का। द्वितीया तभी आयेगी जब उसे आना होगा। वह एक दिन पहले नहीं आ सकती। यदि जादू से लाई जायगी तो अपराध और विपत्ति का सूत्रपात करेगी। यह वह दुनिया नहीं है जहाँ अँबराई बराबर फूलती है, मानो छहों ऋतुओं में वसन्त ही हो। पद्मिनी जब मानसरोवर में खेलने के लिए जाती है तो जायसी समय का उल्लेख इस प्रकार करते हैं :

एक दिवस कौनेउँ तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई ॥

इस 'कौनेउँ तिथि' को बाद के पाठान्तरों में 'पूनो तिथि' किया गया। परन्तु कल्पना के जिस स्तर पर जायसी सिंहल द्वीप का वर्णन कर रहे हैं, उसमें सभी तिथियाँ समान हैं। कोई भी तिथि, किसी भी तिथि-जैसी है। द्वितीया और अमावस्या का जानलेवा भेद उस लोक में है ही नहीं। इसीलिए 'कौनेउँ तिथि' को 'पूनो तिथि' में बदलना कम से कम मुझे आवश्यक नहीं दिखता। और, वही आम के पेड़ों का बिम्ब, जिनका निरन्तर फूलना सदा वसन्त की स्थापना करता है, इतिहास-लोक में आठ बरस व्यतीत हो जाने के निमित्त उपयुक्त हुआ है। चित्तौड़ को अलाउद्दीन ने आठ बरस घेरा :

आठ बरिस गढ़ छेंका अहा। धनि सुलतान कि राजा महा ॥
आइ साहि अँबराउ जो लाए। फरे झरे पै गढ़ नहिं पाए ॥

इसी तरह की सूक्ष्म झनकारें विभिन्न स्तरों पर कथा के दोनों भागों मे भरी हुई हैं। बिम्ब, कल्पना-चित्र, साधन-साध्य का सम्बन्ध, घटनाक्रम की प्रकृति, ये सारी गूँजें-अनुगूँजें इन दोनों लोकों के अर्थों को प्रतिच्छायित करती हैं और गहरी व्यंजनाएँ उत्पन्न करती हैं। जायसी की काव्य-क्षमता की महानता इसमें है कि उन्हें सीधे हस्तक्षेप करके अभिप्राय को खोलकर कहने और दार्शनिक अथवा सामाजिक स्थापना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वस्तुतः इसी कारण पूरी कथा में विचारधारा नहीं, बल्कि एक नैतिक मर्म और उसमें अनुस्यूत बौद्धिक सघनता की प्रतीति होती है।

आठ बरस गुज़रने के काल को जिस प्रकार जायसी ने आमों के फलने और झर जाने के बिम्ब से वस्तुपरक बनाया है, उसके समान्तर सिंहल द्वीप से एक अन्य उद्धरण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। वह कड़वक जायसी की उत्कृष्ट शिल्पगत संरचनाओं में से है। यहाँ भी विषय समय के बीतने का है। सिंहल द्वीप के गढ़ पर घण्टा बजता है—और समय मन्द गति से बीतता है :

> नवौ पँवरि पर दसौं दुआरू। तेहि पर बाज राज घरिआरू।।
> घरी सो बैठि गनै घरिआरी। पहर-पहर सो आपन बारी।।
> जबहिं घरी पूजी वह मारा। घरी-घरी घरिआर पुकारा।।
> परा जो डाँड जगत सब डाँड़ा। का निचिंत माटो कर भाँड़ा।।
> तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे। आएहु फिरै न थिर होइ बाँचे।।
> घरी जो भरै घटै तुम्ह आऊ। का निचिंत सोवहि रे बटाऊ।।
> पहरहि पहर गजर नित होई। हिआ निसोगा जाग न सोई।।
>
> मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी कै रीति।
> घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति।।४२।।

मैं समझता हूँ कि इस कड़वक को विश्लेषित करने की आवश्यकता नहीं है। हम सतह पर ही देख सकते हैं कि आरम्भ वस्तुपरक गढ़ पर बजने वाले घण्टे से होता है और धीरे-धीरे अत्यन्त सधी हुई कूँची के रंगों से अन्त तक सारा वस्तुपरक दृश्य कपूर की तरह उड़ जाता है। सिर्फ़ एक हल्के विषाद की सुगंध शेष रह जाती है जिसकी प्रतीति हमारे बाहर नहीं, अन्तःकरण में देर तक होती रहती है। यह विषाद की सुगंध काल की उस गति की सुगंध है जहाँ हमारे भीतर समय और समयहीनता, सान्तता और अनन्तता की रेखाएँ एक-दूसरे को भेद जाती हैं।

क्या यह सब तसव्वुफ़ है ? क्या इसको तसव्वुफ़ की शब्दावली, मजाज़ और हक़ीक़त से समझा जा सकता है ? मुझे ऐसा नहीं लगता । यह स्वर, यह विषाद, यह टीसती हुई तड़प एक ऐसे कवि की है जिसे मजाज़ और हक़ीक़त दोनों चाहिए । जो मजाज़ को हक़ीक़त के सामने पड़े हुए पर्दे की तरह नहीं देखना चाहता, जो मजाज़ और हक़ीक़त को युगनद्ध देखना चाहता है । जिसे बैकुंठी प्रेम की तलाश नहीं है, जो ऐसा प्रेम चाहता है जो प्रेम करने वाले मनुष्य को ही बैकुंठी बना दे ।

सिंहल-लोक और इतिहास-लोक को आमने-सामने दर्पण की तरह खड़ा कर देने में दो ख़तरे थे । एक तो यह कि इन दोनों भुजाओं में कोई मेल होता ही नहीं । जैसा मैंने पहले कहा, दोनों खण्ड अलग-अलग काव्य हो जाते, उनमें एकता न स्थापित होती । या, यदि दोनों में कहीं कोई जोड़ पैदा होता तो वह केवल व्यंग्य या कटाक्ष की ध्वनि उत्पन्न करता । या तो सिंहल-लोक इतिहास-लोक की पैरोडी बन जाता, या इतिहास-लोक सिंहल-लोक की । इन दोनों ख़तरों का सामना जायसी ने कैसे किया ? कैसे उन्होंने दोनों को मिलाया और इस सम्मिलन से सैटायर नहीं, ट्रैजिक विज़न को अभिव्यक्त किया ?

जोड़ने वाली मुख्य कड़ी पद्मावती है और एक हद तक रतनसेन । देखने में रतनसेन वह है जो चित्तौड़ से सिंहल द्वीप, फिर वापस चित्तौड़, फिर वहाँ से दिल्ली और फिर वापस चित्तौड़ तक की यात्रा करता है । परन्तु पूरी कथा पर पद्मावती छाई हुई है । जायसी की चित्रण-शैली में रतनसेन अपेक्षाकृत स्थूल या पार्थिव है । जितना ही विरह की सलाख़ें उसके मांस को भूँजती हैं, उतनी ही उसकी जिद्दी पार्थिवता उसे पूरी तरह निचुड़ जाने से रोकती है । यहाँ तक कि महादेव को पहचान कर, जायसी की शब्दावली में, वह घबराया हुआ रतनसेन जब डफार छोड़कर महादेव के पैरों पर पड़ जाता है तो हमें उसकी आन्तरिक व्याकुलता के साथ डफार की आवाज़ ज़्यादा ज़ोर से सुनाई पड़ती है । विरह और तीव्र उद्वेग तो पद्मावती को भी है, लेकिन जायसी उसके लिए 'डफारने' वाली शब्दावली का प्रयोग नहीं करते । परन्तु पद्मावती स्थूल और सूक्ष्म, पार्थिव और अपार्थिव, दोनों स्तरों पर एकसाथ झंकृत है । वस्तुतः पद्मावती आधा स्वप्न है, आधा यथार्थ । पद्मावती का चित्र रोमांटिक चित्र नहीं है जहाँ यथार्थ उसी समय अपनी आभा को प्राप्त करता है जब वह पिघलता हुआ अशरीरी हो जाने के क्षण में अटका होता है । लेकिन जायसी ने शास्त्रीय पद्धति के जिस नखशिख-वर्णन और काव्य-अभिप्रायों का सहारा लिया है, उसने जहाँ पद्मावती को स्वप्नवत् बनाया, वहीं उसको एक

वस्तुपरकता भी प्रदान की। पद्मावती कवि का निजी स्वप्न नहीं है, जैसा रोमांटिक और छायावादी कवियों के साथ होता था—पद्मावती एक पूरी संस्कृति का स्वप्न है। इसीलिए यह स्वप्नमयता उसकी पूरी काया के साथ एकात्म हो जाती है, काया को तिरोहित नहीं करती। उसके सौन्दर्य की अपार्थिवता के साथ उसकी यह अपार्थिवता अक्षुण्ण रहती है।

पूरी कथा में हमारे सामने पद्मावती के कई चित्र आते हैं। एक पद्मावती वह है जिसने मानसरोदक के तीर पर अपने बालों को खोलकर लहरा दिया है। वह धीरे-धीरे जल की ओर जाती है और मानसरोवर उछल-उछल कर उसके पैरों को छूने के लिए लहरें ले रहा है। एक पद्मावती वह है जिसके नख-शिख का वर्णन हीरामन करता है। एक पद्मावती वह है जो बाग़ में प्रथम दर्शन के साथ रतनसेन को बेहोश देखकर उसकी छाती पर लिखती है, 'बुद्धू, एक ही जलवे में टें बोल गया। ऐसे कहीं पद्मावती को पाया जाता है?' वही पद्मावती सुहागरात में रतनसेन को चिढ़ाती है, 'अरे जोगी, तू मुझ राजकुमारी को छूने का साहस लेकर कहाँ से आ गया? दूर हट, तेरे मुँह से तो माँग कर खाये हुए भात की गंध आ रही है।' एक पद्मावती वह है जो सुबह माँ के सामने सिकुड़ी, कुम्हलायी, सुहागिन बिटिया बनकर बैठी है और माँ उसके बालों को चूमती है और न्यौछावर फेरती है। एक पद्मावती वह है जो समुद्र के किनारे रतनसेन के लिए बिलख रही है। एक पद्मावती वह है जो राघव चेतन को कुपित होकर जाता देख, व्यवहार-बुद्धि से झरोखे से कंगन फेंकती है और जब राघव चेतन उसकी झलक देखकर मूर्छित हो जाता है तो हँसकर खिड़की बन्द कर देती है, 'कम्बख़्त, जिसे देखो वही मुझे देखकर मरा फिरता है। अब यह गुणी मर गया तो हत्या मुझे ही लगेगी।' यहाँ भी एक प्रतिध्वनि है। रतनसेन को बेहोश छोड़कर जब पद्मावती अपने महल चली गयी तो अपनी सखी से कहती है :

> जासौं हौं चख हेरौं सोइ ठाउँ जिउ देइ।
> एहि दुख कबहुँ न निसरौं को हत्या असि लेइ॥१६५॥

'जिसको मैं आँख भरकर देख लेती हूँ, वह उसी जगह प्राण दे देता है। इसी दुःख से मैं कभी बाहर नहीं निकलती कि कौन इस प्रकार हत्या अपने सिर ले।'' एक पद्मावती वह है जो सौत से लड़ने के लिए पहले तो चतुर कवियों की भाँति श्लेष-भरी गालियाँ देती है और फिर गरदनियाँ देकर गुँथ जाती है। एक पद्मावती वह है जो चंचल लड़की की तरह महल में आये हुए दिल्ली के सुलतान को देखने का लोभ नहीं छोड़ पाती और अपनी विपत्ति ख़ुद बुलाती है। एक पद्मावती वह है जो ग़ुस्से में भरकर देवपाल की कुटनी

के नाक-कान कटवा कर बाहर निकलवा देती है। एक और पद्मावती है जो सधी हुई गरिमा के साथ अवसादग्रस्त राजमहिषी की भाँति रूठे हुए गोरा बादल को मनाने जाती है। और एक आख़िरी पद्मावती वह भी है जो रतनसेन की चिता के चारों ओर भाँवर देकर रतनसेन का आलिंगन करके चिता पर लेट जाती है। जलकर राख हो जाती है, लेकिन उसके शरीर में एक मरोड़ भी नहीं पैदा होती :

लागीं कंठ आगि दै होरी। छार भईं जरि अंग न मोरी।।

सिंहल-लोक की इस अर्द्ध-स्वप्न अर्द्ध-यथार्थ राजकुमारी में ये सारी पद्मावतियाँ समाविष्ट हैं। जायसी की पद्मावती कथा का एक स्थिर पात्र या एकार्थी प्रतीक नहीं है, वह ऊर्जा का एक विलक्षण संपुंज है। यह ऊर्जा स्वयं उसे ही ऊर्जस्वित नहीं रखती; जहाँ उसकी एक प्रत्यक्ष या परोक्ष चितवन पहुँचती है, वहीं से ऊर्जा का स्रोत फूट पड़ता है। मानसरोवर की लहरें हों, हीरामन तोता हो, रतनसेन हो, राघव चेतन हो, अलाउद्दीन हो, गोरा बादल हो, चिता से उठती हुई ज्वालाएँ हों, और अन्त में उसे बूढ़े कवि मलिक मुहम्मद जायसी का सपने देखने वाला मन हो, सबमें उसकी ऊर्जा का समुद्र लहराता है। और, पद्मावती अपनी इस चकाचौंध करने वाली ऊर्जस्विता को जानती भी है। इसीलिए उसकी उदासी और खिलखिलाहट, उसकी सात्त्विक गम्भीरता और उसका अल्हड़ चुलबुलापन, उसका चुम्बकीय आकर्षण और उसका अडिग सत, उसका सहज विश्वासी मन और अनुभवी राजनीतिज्ञ की भाँति उसकी व्यावहारिक कुशलता, उसकी द्रवित हो जाने वाली आतुरता और उसका निर्बन्ध क्रोध—ये परस्पर-विरोधी लगने वाले भावात्मक उतार-चढ़ाव किसी दार्शनिक अवधारणा या प्रतीक का नहीं, ज़िन्दगी की उछाल का निर्माण करते हैं। पद्मावती ज़िन्दगी का दर्शन नहीं, ज़िन्दगी है। वह जायसी का तसव्वुफ़ नहीं, जायसी की कविता है।

वैसे तो पद्मावत का कोई पात्र नहीं है जिसको जायसी ने पूर्णतः आत्मसात् न कर लिया हो, परन्तु जिस मनोयोग से उन्होंने पद्मावती को रचा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही पद्मावती कथा के दोनों भागों में समान रूप से अवस्थित रहने में सक्षम है। इसीलिए वह पूरी कथा को जोड़ती है। और इस पद्मावती का अन्तिम विसर्जन उस विषाद-दृष्टि को जन्म देता है जो जायसी को पारमार्थिक वैराग्य की तरह नहीं, तिलमिलाये व्यंग्य की तरह भी नहीं, एक विराट परन्तु कुरेदते हुए प्रश्नचिह्न की तरह मथती रही। रतनसेन जब सिंघल पहुँचता है तो अधूरा रहता है, उसका राधा हिस्सा चित्तौड़ में में छूट जाता है। नागमती की शकल में छूटा हुआ यह आधा हिस्सा उसे

सिंघल द्वीप से इस तरह खींचता है कि उसके एकान्तिक प्रेम के पल्लवित वृक्ष की जड़ें दूर-दूर तक उखड़ जाती हैं। और, अलाउद्दीन तो चित्तौड़ तक ही पहुँचता है जब राम और सीता अलोप हो चुकते हैं। सिंघल-लोक भी कोई चीज़ है, इसकी तो जानकारी भी अलाउद्दीन को नहीं होती। क्या है जो इस पद्मावती को जलाकर छार कर देता है? 'कुरेदते हो ये क्यों ख़ाक जुस्तजू क्या है?'

क्या यह दार्शनिक या पारमार्थिक प्रश्न है? क्या यह नैतिक प्रश्न है? क्या यह सांस्कृतिक प्रश्न है? क्या यह सामाजिक प्रश्न है? क्या यह राजनीतिक प्रश्न है?

मैंने आरम्भ में कहा था कि जायसी ने लिखा चाहे सोलहवीं शताब्दी में हो, लेकिन उन्हें वस्तुतः आविष्कृत इस बीसवीं शताब्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। इस अर्थ में वे बीसवीं शताब्दी के ही कवि हैं। लेकिन उनकी सृजनशीलता एक गहरे अर्थ में आधुनिक है। उनकी विशेषता इसमें है कि उनके पद्मावत में इन प्रश्नों के विभिन्न स्तरों का नितान्त तिरोभाव हो जाता है। ऐसे युग में जहाँ परमार्थ सम्प्रदाय में, नैतिकता पक्षपात में, संस्कृति सामूहिक अलगावों में, सामाजिकता हिन्दू-तुरुक-संघर्ष में और राजनीति निरंकुशता में निरन्तर स्तरीकृत होती रहती है, एक ऐसी विराट सुगन्ध की कल्पना करना जिसमें ये सारे स्तर विलीन हो जाते हों, विषाद से भर जाना तो था ही, केवल अंशतः समझे जाने के लिए निमंत्रण देना भी था। पद्मावती के जलने के साथ वैभव-संपन्न एक पूरी आन्तरिक दुनिया जल जाती है। अलाउद्दीन जिसे नहीं देखता, जायसी जिसे देख रहे थे।

यह कहना कि हिन्दी के आधुनिक कवि भी इन तमाम स्तरों को तिरोहित करने में सफल हो पाते हैं, कठिन है। लेकिन यह उनकी चिन्ता और सर्जनशीलता की प्रमुख वृत्ति तो है ही।

विभिन्न स्तरों के तिरोहित होने की प्रक्रिया पद्मावत में किस प्रकार घटित होती है? इस प्रश्न को लेकर जब हम पद्मावत को पढ़ते हैं तो हमें यह प्रक्रिया न सिर्फ़ कथा के पूरे ढाँचे में, बल्कि सर्वत्र, छोटी-से-छोटी घटनाओं और उक्तियों में भी अनुस्यूत दिखलाई पड़ती है। इसकी कुछ छवियाँ हमने प्रतिच्छाया अलंकार का उल्लेख करते हुए दिखाई हैं। और विस्तृत विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है, लेकिन एकाध स्थलों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करने का लोभ नहीं संवरण कर सकता।

मैंने पहले कहा है कि दिल्ली और सिंहल द्वीप के बीच चित्तौड़ दोमुँहा है। वह उस रतनसेन को जन्म देता है जिसके बारे में एक नहीं दो भविष्य-

और सूफ़ीवादी शब्दावली के साथ 'कभी पद्मावती गुरू, कभी रतनसेन चेला; कभी रतनसेन गुरू और पद्मावती चेला' कहकर गहरी तड़प और एक जान दो क़ालिब जैसी गहराई देते हैं। पद्मावती से शादी करने के बाद जब वह 'घरनारी' बन जाती है, तो जायसी अपने विनोदी मन पर ज़ब्त न करके एक फ़ब्ती भी जोड़ देते हैं। सुहागरात में सखियाँ जब पद्मावती को लेकर रतनसेन के पास आती हैं तो ये हज़रत अपनी आदत के अनुसार फिर एक बार मूर्छित हो जाते हैं। सखियाँ फ़ब्ती कसती हैं :

जोगी आहि न भोगी होई। खाइ कुरुकुटा गा परि सोई॥
पदुमावति निरमलि जसि गंगा। नाहिं जोग जोगी भिखमंगा॥
अबहुँ जगावहिं चेला जागू। आवा गुरू पाय उठि लागू॥
बोलहिं सबद सहेलीं कान लागि गहि माँथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा उठु रे चेला नाथ॥३०३॥

सखियों ने रतनसेन का माथा पकड़ा और कान में मुँह लगाकर ज़ोर से चिल्लायीं, "अरे ओ नाथ के चेले उठ। देख तेरे गुरू गोरखनाथ खड़े हैं। उठ कर पाँव लग।" 'आख़िरी कलाम' में मलिक मुहम्मद जायसी ने ठीक ही कहा था, 'मेहरी के भेस में जब औरत रात को आती है तो नीचे गिराकर पुरुष से कैसा-कैसा साष्टांग दण्डवत करवाती है।'

इस 'घरनारी' की और भी प्रतिध्वनियाँ इतिहास-लोक में उपस्थित होती हैं। सिंहल-लोकीय अर्द्धांश में हम यह मानकर चलते हैं कि पद्मावती अलग चीज़ है, नागमती अलग चीज़। दोनों दो दुनियाओं के पात्र हैं। उनमें समकक्षता का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता। बल्कि जायसी ने नागमती के पूछने पर हीरामन के उत्तर द्वारा और बाद में रतनसेन की फटकार द्वारा इस अ-समकक्षता को पहले रेखांकित किया है। जब पद्मावती 'घरनारी' बन जाती है और इतिहास-लोक में आती है तो चित्तौड़ पहुँचते ही दोनों की समकक्षता शुरू हो जाती है, और जो समुद्र तक पद्मावती थी, चित्तौड़ आकर एक और 'बीबी' बन जाती है। और रतनसेन के सामने बिल्कुल व्यावहारिक समस्या खड़ी होती है कि इन दोनों का जोड़ कैसे बैठाया जाय। वह पद्मावती को अलग महल में उतारता है और फिर प्रेम और सत का वह अमर पुजारी दोनों बीवियों से अलग-अलग सफ़ेद झूठ बोलता है। दोनों से चुपके से कहता है, 'असली तुम्हीं हो, दूसरी वाली तो यों ही है।' लगता है कि औरतें गम्भीरता से ली जाने वाली चीजें ही नहीं हैं। यहाँ परिस्थितिजन्य सैटायर या व्यंग्य हो जाने की पूरी सम्भावना थी। यह जायसी की शैली की विशेषता है कि यह स्थल बोलता हुआ सैटायर न बनकर 'घरनारियों' के उपालम्भ तक ही

सीमित रह जाता है। अधिक से अधिक वे परिचित खण्डिता नायिकाएँ हो जाती हैं जिनकी छवि को स्थिर करके बाद के रीतिकवियों ने पोथे रँगे। कथाप्रवाह की गम्भीरता, शास्त्रीयता की झलक देकर, पुनः स्थापित कर दी जाती है। सफ़ेद झूठ बोलने के बाद की जिरहों में रतनसेन को उत्तर देने की जरूरत नहीं पड़ती।

रतनसेन को साफ़ बचा लेने के बाद भी जायसी मामले को यहीं नहीं छोड़ना चाहते। समकक्षता एक बिल्कुल दूसरे ढंग से स्थापित की जाती है। सौतिया-डाह में दोनों भिड़ जाती हैं। और उस वर्णन में दोनों के अंग-प्रत्यंग बिल्कुल एक तराजू पर तौल दिये जाते हैं। आत्मिक स्तर, यौवन और सौन्दर्य सब एक-जैसे हो जाते हैं। नागमती और पद्मावती में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दोनों इसी इतिहास-लोक की घरनारियाँ हैं। उड़ती हुई बात राजा के कानों तक पहुँची। उसने आकर दोनों नारियों को शान्त किया। क्या समझाया? तुम दोनों साथ रहो। लड़ती क्यों हो? दोनों ही मेरी घरनारियाँ हो। छोटे-बड़े का क्या सवाल? रतनसेन का कहा हुआ पहला वाक्य यहाँ प्रतिध्वनि की तरह आभासित होता है, "आख़िर औरतें ही हो न! औरतों के अक्ल नहीं होती।"

इस प्रसंग को गहराई और समाधान देने के लिए जायसी फिर योगमार्ग की शब्दावली का प्रयोग करते हैं, ताकि आन्तरिकता बनी रहे और हल्के विनोद के बावजूद सैटायर न प्रकट होने पावे। पाठक के भावयंत्र पर पूरा अनुशासन बनाये रखने के लिए उनके पास सबसे बड़ा सामर्थ्य उनकी शैली की विविधता और शब्द-भण्डार का अजस्र प्रवाह है। इस पूरे प्रसंग को फिर वे हठयोगी साधना के अतिरिक्त अर्थों से जोड़ देते हैं और नागमती-पद्मावती की समकक्षता का समाधान योगमार्ग की दोनों जलती हुई इड़ा-पिंगला नाड़ियों का हो जाता है जो क्रौंच द्वार से सुषुम्ना में पहुँच कर शान्ति प्राप्त करती हैं, जैसा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी टीका में दर्शाया है।

लेकिन श्लेष और उक्ति-कौशल पर आधारित यह समाधान अन्तिम नहीं हो पाता। वस्तुतः अन्तिम वह है भी नहीं। तनाव बना रहता है। फिर नागमती कथा से अनुपस्थित हो जाती है। कथा के अन्त में रतनसेन की चिता के सामने वह पद्मावती के साथ फिर अचानक प्रकट होती है। इस बार दोनों साथ-साथ चिता को भाँवरें देती हैं, साथ-साथ सारे क्रिया-कर्म करती हैं, साथ ही साथ एक ही शब्दावली में अपने सतीत्व की सौगन्ध खाती हैं और साथ ही साथ जल मरती हैं। आख़िरी समाधान सहमरण ही है। ताकि हमको समस्या की आरम्भिक स्थिति भूल न जाय, इसलिए इस क्षण में भी जायसी याद दिलाते हैं कि मरने तक सौतिया-डाह बना रहा :

नागमती पदुमावति रानी। दुवौ महासत सती बखानी ॥
दुवौ आइ चढ़ि खाट बईठीं। औ सिवलोक परा तिन्ह डीठी ॥
बैठौ कोइ राज औ पाटा। अन्त सबै बैठिहि एहि खाटा ॥
चंदन अगर काढ़ि सर साजा। औ गति देइ चले लै राजा ॥
बाजन बाजहिं होई अकूता। दुऔ कंत लै चाहहिं सूता ॥
एक जो बाजा भएहु बियाहू। अब दोसरें होइ ओर निबाहू ॥
जियत जो जरहिं कंत की आसा। मुँए रहसि बैठहिं एक पासा ॥

आजु सूर दिन अँथवा आजु रैनि ससि बूड़ि।
आजु नाँचि जिय दीजिअ आजु आगि हम जूड़ि ॥ ६४९ ॥

सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिर भाँवरि दीन्हा ॥
एक भँवर भै जो रे बियाहीं। अब दोसरि दै गोहन जाहीं ॥
लै सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ीं दुवौ कंत कँठ लाई ॥
जियत कंत तुम्ह हम कँठ लाईं। मुए कंठ नहिं छाँड़हिं साँईं ॥
औ जौ गाँठि कंत तुम्ह जोरी। आदि अन्त दिन्हि जाइ न छोरी ॥
एहि जग काह जो आथि निआथी। हम तुम्ह नाँह दुहूँ जग साथी ॥
लागीं कँठ आगि दै होरी। छार भईं जरि अंग न मोरी ॥

रातीं पिय के नेह गईं सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा सो अँथवा रहा न कोइ संसार ॥६५०॥

समकक्षता अपने चरम और अन्तिम रूप में स्थापित हो जाती है। अब फिर आप उस फटकार की याद करें, "औरत ही हो न ? औरतों के अक़्ल नहीं होती।" घरनारी को कितनी गंभीरता से लिया जाना ज़रूरी है ? या, हम चाहें तो इस स्थल पर जायसी के ही अनभिव्यक्त प्रश्न को पूछ सकते हैं : 'इस समाज, इतिहास-लोक को ही कितनी गंभीरता से लिया जाना ज़रूरी है जिसका अन्तिम समाधान मृत्यु में ही निकलता है ?'

अगर जायसी नागमती की तसवीर इतनी ही देते, तो भी उसकी भूमिका पद्मावती के उस प्रतिपर्ण की भाँति होती जो पद्मावती को सिंहल-लोक से इतिहास-लोक में लाकर अपने समकक्ष बैठा दे और इस प्रकार एक अनुबन्ध बनाये। लेकिन, जायसी की प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट कल्पना ने नागमती की एक और तसवीर हमारे सामने रखी है जिसने कथा में एक बिल्कुल ही दूसरे प्रकार की गहराई उत्पन्न कर दी है। वह कल्पना है नागमती का विरह-वर्णन।

जायसी द्वारा प्रस्तुत नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य की अद्वितीय रचना है, इसमें कोई संदेह नहीं। उस विरह-वर्णन के आन्तरिक

संवेगों की तरलता और तीव्रता का विश्लेषण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भावग्राही आलोचक बुद्धि ने जिस प्रकार किया है, उसमें कुछ जोड़ने का प्रयास करना व्यर्थ है। यह नागमती का विरह-वर्णन ही था जिसके कारण शुक्ल जी ने जायसी को गुमनामी से उठाकर हिन्दी की त्रिवेणी में बिठा दिया। मैं बहुत विनम्रतापूर्वक शुक्ल जी के इस मूल्यांकन में अपनी आवाज़ भी मिलाना चाहता हूँ।

परन्तु नागमती का विरह-वर्णन भावों का तीव्र और संगीतात्मक सम्प्रेषण मात्र ही नहीं है। वह हमारे आस्वादन में कुछ और अनुभूतियाँ भी जोड़ता है। पूरा विरह-वर्णन, बारहमासे की शक्ल में, नागमती की वाणी के द्वारा रूप ग्रहण करता है। नागमती का पार्थिव शरीर और महल की सखियाँ शुरू की कुछ पंक्तियों में झीनी-सी दिखलाई पड़ती हैं। अचानक कल्पना एक झटके से मुक्त हो जाती है और हमारा साक्षात्कार आवाज़, सिर्फ़ आवाज़ से होने लगता है। धीरे-धीरे झीनी पार्थिवता भी केंचुल की तरह छूट जाती है। सारी पार्थिवता तिरोहित होने लगती है। सखियाँ पिघल कर तिरोहित हो जाती हैं। चित्तौड़ का क़िला, राजमहल सब तिरोहित हो जाता है, यहाँ तक कि नागमती का पार्थिव शरीर भी तिरोहित हो जाता है। वीरानों, जंगलों, वनखण्डियों, पहाड़ियों, गाँवों, खेतों में टीसती हुई एक साफ़, लेकिन अशरीरी आवाज़ शेष रह जाती है। यह आवाज़ पूरे देश के, गुज़रते हुए समय के मर्म में निरन्तर तैरती रहती है। देश और काल, दोनों अनावश्यक आवरण की तरह छूट कर गिर जाते हैं—मर्म, केवल मर्म ही रह जाता है। किसकी आवाज़ है है यह? नागमती की? इस आवाज़ में एक पारदर्शी निर्वैयक्तिकता है जो नागमती को भी पीछे छोड़ जाती है। शनैः-शनैः यह अन्तर्वर्ती आवाज़ पूरे चित्तौड़ की, और उससे भी आगे बढ़कर उस पूरे इतिहास-लोक की आवाज़ हो जाती है जिसे छोड़कर रतनसेन चला गया है।

अब हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि दिल्ली और सिंघल द्वीप के बीच का चित्तौड़ किस अर्थ में दोमुँहा है। चित्तौड़ भी पिघल सकता है और शुद्ध आन्तरिकता की कटार की तरह सिंहल-लोक के मर्म के समकक्ष हो जाने में समर्थ है। तब नागमती को हीरामन के जवाब में एक विहंगम मिलता है जो इस जलती हुई आवाज़ को लेकर सिंहल द्वीप जाता है।

इस संदेश का असर रतनसेन पर जायसी ने फिर इस तरह दिखाया है कि दर्पण-न्याय से तरह-तरह की प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। यह ठीक ही है कि यह सन्देश उसे उस समय मिलता है जब षट्ऋतु-वर्णन के बाद हम उसे सिंहल-लोक में पूरी तरह समाविष्ट देख चुकते हैं। राजा गन्धर्वसेन उससे कह

चुके हैं; 'चित्तौड़ बहुत दूर है। वहाँ वापस जाकर क्या करोगे ? यहीं बस जाओ।' रतनसेन घरजमाई बनकर बस गया। अचानक यह सन्देश आता है। उस सन्देश में चित्तौड़ नगर का नाम है जो सूना हो गया है। रतनसेन की माँ का नाम है जो रो-रोकर अंधी हो गयी है और उसके मर्म में नागमती है जिसके विरह की झार से धरती-आकाश जल रहे हैं।

रतनसेन पक्षी को बुलाता है, लेकिन वह उसका विश्वास नहीं करता। वह डरता है, यह आदमी कपटी है, मुझे बन्दी बना लेगा। संदेश कहकर पक्षी उड़ चला। सारे सिंघल-लोक में आग लगा गया।

कहि सो सँदेश बिहंगम चला। आगि लाइ सगरिउ सिंघला ॥

सिंघल-लोक में आग किस प्रकार लगती है ? रतनसेन पर इसका प्रभाव बड़ा विचित्र पड़ता है। वैश्विक सामरस्य का जो विशाल वृक्ष उसने रक्त के आँसू बहाकर, सूली पर चढ़कर और ऐकान्तिक संकल्प के द्वारा जमाया था, सहसा इतनी ज़ोर से चरमराता है कि उसकी जड़ें दूर-दूर तक उखड़ जाती हैं और यह जड़ से उखड़ा हुआ आदमी—प्रेम और सत का मरजिया गोताख़ोर—ठीक इसके बाद सिंहल द्वीप में राजा गंधर्वसेन से सफ़ेद झूठ बोलता है, "चित्तौड़ से चिट्ठी लेकर कबूतर आया है। वहाँ मेरी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर मेरे भाई लोग मेरे सिंहासन को हथिया लेना चाहते हैं। भाइयों से बड़ा जानलेवा शत्रु दूसरा नहीं होता। कृपया मुझे चित्तौड़ जाने की इजाज़त दीजिये।" इस वक्तव्य का एक-एक वाक्य झूठा है। पद्मावती को तो छोड़िये, सचमुच यह रतनसेन नागमती के भी योग्य है या नहीं ?

विश्लेषण में एक-एक करके गिनाने से पूरा संश्लिष्ट चित्र टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। यह कुछ मेरी अक्षमता है, कुछ शायद आलोचनात्मक विश्लेषण की पद्धति की ही दरिद्रता है। यही कह सकता हूँ कि इस पूरे चित्र को जायसी के पद्मावत में ही पढ़ें। जैसा जायसी दिखाते हैं, उसका मैं संकेत मात्र ही दे सकता हूँ। बार-बार दूर वनखण्ड से आकर मैं इस जायसी-रूपी कमल की बास लेता हूँ। हर बार एक नई सुगन्ध मिलती है।

नागमती पद्मावती का प्रतिपर्ण है—लेकिन कितना शक्तिशाली प्रतिपर्ण है ? उसकी भूमिका मुख्यतः पद्मावती को इतिहास-लोक में लाकर बिठाने की है, कुछ इस तरह कि इतिहास-लोक पिघले और कुछ इस तरह की पद्मावती की तरलता कम हो। इससे सैटायर नहीं उभरता और सत्य के एकसाथ कई स्तरों पर प्रतिध्वनित होने की गुंजाइश बनी रहती है। जैसे जायसी कहते हों कि इस पात्र को तुमने भीतर से देखा, अब बाहर से देखो, अब फिर भीतर से देखो—यही पूरा सत्य है।

———

- सोशलिस्ट पार्टी के शिक्षण-शिविरों में बराबर शिक्षण-भाषण करते थे और सोशलिस्ट पार्टी के सम्मेलनों में भाग लेते थे।
- आखिरी भाषण लोहिया-जयप्रकाश जयन्ती पर पटना में देकर सितम्बर 13, 1982 को लौटे थे कि दिल का दौरा पड़ा।
- सम्पादन : 'आलोचना' (1953-58), (नयी कविता) (1953)
- प्रकाशन : तीसरा सप्तक में (1958), मछलीघर (1966), साखी (1983), जायसी (1983), साहित्य और साहित्यकार का दायित्व (1983), 'वेस्टर्निज्म एण्ड कल्चरल चेंज' (टूवर्ड्स ए कल्चरल पॉलिसी, एडीटर सतीश सकरवाल)
- रीडर—1970—अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।
- प्रोफेसर—1978—अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।
- विदेश यात्रा : 1973 ई० में भारत सरकार के कल्चर रिप्रेजेन्टेटिव होकर अगस्त में यूगोस्लाविया में स्ट्रगा वर्ल्ड पोयट्री फेस्टिवल में भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व किया और फिर उलान, बटोर, लेनिनग्राड, प्राहा, वारशावा, हैम्बुर्ग, हाइडेलबर्ग के विश्वविद्यालयों में 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन कल्चर ऐण्ड लिटरेचर ऐण्ड द इमपैक्ट ऑफ द वेस्ट' पर भाषण दिये।
- 1970-71 में इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज में 'सेकुलर ऐण्ड नान-सेकुलर ट्रेन्ड्स इन नार्थ इण्डियन लिटरेचर' तथा 'वेस्टर्निज्म ऐण्ड कल्चरल चेंज इन इंडिया' पर पेपर पढ़े।

●